[श्री रासविहारी जी]

श्री भागवत-दर्शन ::

भागवती कथा

(सप्तम खण्ड)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-० रुपया

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति] अधिक वैशाख शु० २०२९ अप्रैल १९७२ [मूल्य—१.६५

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग

विषय-सूची

कागद की कटु कथा

(भूमिका)

तव कथामृतं तप्तजीवनम्,
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततम्,
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥*
(श्रीभा० १० स्क० ३१ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

ज्यों दधि घृत के सङ्ग पात्र स्वाभाविक आवें।
गुठली, छिलका, बीज बिना नहिँ नर फल पावे ॥
यदि पाटल के पुष्प पेड़ पै पैदा करिहो।
कंटक होवें अवसि चाहिँ जितनो हू डरिहो ॥
ज्यों द्विज रस हित सहें सब, ईख दंड चूसन व्यथा।
त्यों भागवती कथा सँग, यह कागद की कटु कथा ॥

---

* व्रजाङ्गनाएँ कह रही हैं—"हे प्रभो ! आपकी भागवती कथाएँ संसार ताप से संतप्त जीवों को जीवन दान देने वाली है। भाग्यवान् कवियों द्वारा कीर्तन की जाने वाली हैं। कलि कल्मषों को कुठार के समान है, श्रवण सुखद हैं और मुख शान्ति तथा समृद्धिदायिनी हैं। उन मङ्गलमय कथाओं का जो लोग इस भूलोक में प्रचार और प्रसार करते हुए वर्णन करते फिरते हैं, वे ही सबसे बड़े दाता हैं। (चार ठीकरी या कागज़ के टुकड़े देने वाले ही दाता नहीं)।

श्री गणेशाय नमः। श्रीगुरवेनमः। सरस्वत्यै नमः। गोविन्दाय नमो नमः, जो है सो भागवती कथा के प्रिय पाठको! अब हम भागवती कथा के पूर्व कागद की कटु कथा कहते हैं, आप अपने कर्ण कुहरों को कड़ा करके कष्ट के सहित इस कर्ण कटु प्रसंग को अनिच्छा पूर्वक भी श्रवण करने की कृपा करें।

आप कहेंगे—"महाराज! देखिये, आहारे व्यवहारे त्यक्त-लज्जो सुखी भवेत्। शील संकोच का काम नहीं। बात स्पष्ट हो जानी चाहिये। लगाव लपेट से बात बिगड़ जाती है। सो, महाराज! हमने जो आपको सवा रुपया दक्षिणा के अग्रिम दिये हैं, वे कृष्ण की कर्णप्रिय कमनीय कलित कथा के निमित्त दिये हैं। अब आप हमें मधुरातिमधुर कलित कथा न सुनाकर कागद की कर्ण कटु कथा सुना रहे हैं, यह अन्याय नहीं तो क्या है? हमने आप से कागद की कथा कहने को तो कहा नहीं। बिना जिज्ञासा के अनिच्छा पूर्वक आप हमारे माथे यह व्यर्थ की कथा क्यों मढ़ रहे हैं?"

सो, महानुभावो! उसका भी उत्तर सुनिये। देखिये! आप गन्धी की दूकान पर जाते हैं, कहते हैं—"हमें १.२५ न० पै० का सुन्दर सुगन्धित सर्वश्रेष्ठ तेल दे दीजिये।" वह आपको एक पतले चर्म की कुप्पी में तेल देता है। आप कहें—"हमें कुप्पी में नहीं चाहिये, केवल तेल ही दे दीजिये, कुप्पी तो हमने माँगी नहीं।" आप माँगे चाहें न माँगे तेल के साथ कुप्पी मिलेगी। मूल्य आप भले ही दही का ही दें, किन्तु उसके साथ दोना या कुल्हड़ मिलेगा ही। आप काँच के बर्तन भेजने को पत्र लिखें तो उनके साथ सन्दूक, घास, फूँस, कागद की कतरन आवेगी ही। उनके लिए पृथक् आज्ञा देने की आवश्यकता नहीं। आपको सिंघाड़े खाने होंगे, तो उनके काँटेदार छिलके साथ आवेंगे।

पीछे चाहे आप उन्हें फिकवा ही दें। बेर खाने को, आम चूसने की, जामुन उड़ाने की आपकी इच्छा होगी, तो गुठलियाँ साथ ही नहीं आवेंगी मुँह में डालकर उन्हें चूसना भी होगा, पीछे चाहे आप उसे अनावश्यक समझकर फेंक ही क्यों न दें। यद्यपि आप ईख का मधुर रस ही चूसना चाहते हैं, किन्तु तो भी रस निगलने के पूर्व मुँह में ईख की लकड़ी ही जाती है। इसी प्रकार यह सत्य है कि आपने दक्षिणा 'भागवती कथा' के लिये ही दी किन्तु उस कथा के पहुँचने का आधार तो कागद ही है। समीप होते तो सुन भी लेते, दूर बैठकर आप क्या श्रवण करना चाहते हैं, वह तो कागद पर ही छप कर पहुँचेगी, अतः कटु होने पर भी आपको कागद की कथा सुननी ही पड़ेगी।

हाँ, तो जब गत वर्ष के आषाढ़ में भागवती कथा के प्रकाशन की चर्चा चल रही थी, तब महायुद्ध समाप्त होकर एक वर्ष हो चुका था। सोचा यह था कि युद्ध के कारण जो कागद का अभाव था, वह कुछ काल के अनन्तर न रहेगा। काँग्रेसी सरकार आते ही कागद का प्रतिबन्ध हटा देगी, प्रचुर परिमाण में कागद मिलने लगेगा। चाहे जितना छापो, चाहे जितना प्रचार करो। यह संसार आशा पर ही टिका है आशा न हो, तो संसार में प्राणी एक दिन भी जीवित न रहे। कोई सुख की आशा से, कोई धन की आशा से, कोई प्रेम और प्रेयसी की आशा से, कोई उन्नति की आशा से और कोई प्रिय पदार्थों की आशा से जी रहे हैं, अभ्युदय के लिये आशान्वित हो रहे हैं। आशा के सहारे ही संसार का चक्र घूम रहा है। उसी समय हमें ४० रिम का स्पेशल कोटा मिला था।

कथा बड़ी है, पाठकों के लिये विषय नीरस है। इसे पूरी कहें तो बात बढ़ जायगी, हाथ कुछ भी न आवेगा। अतः संक्षेप में

पाठक यों समझें कि तब से अब तक नित्य प्रति कागद के लिये कॉइ-कॉइ और लैयोरे, दैयोरे, इधर से ला, इसके पास जा, उसके पास जा, इसकी चिरौरी कर, उसकी अनुनय विनय कर, यही मचा रहा। हम प्रति माह पाँच हजार भागवती कथा छापना चाहते हैं। उसके लिये हमें अस्सी रिम कागद प्रति माह चाहिये। यदि कागद की स्थाई आज्ञा हमें मिल जाती तो अब तक हमारे ग्राहक भी बढ़ जाते और बहुत-सी चिन्ताओं से भी मुक्त हो जाते। कागद के अभाव के कारण हम अब तक प्रत्येक खण्ड को दो-दो हजार ही छापते हैं। प्रथम खण्ड कब का समाप्त हो गया। दुबारा छपाया, वह भी समाप्त होने वाला है। दूसरा खण्ड तीन हजार पुनः छपाया है। लगभग हजार ग्राहक हैं, कुछ कृपालु महानुभाव मँगाकर अपने यहाँ बिक्री के लिये रखते हैं। कुछ भेंट में, सम्मान में पुरस्कार और सम्मति आदि में चली जाती हैं। ऐसे दो हजार का तो प्रायः प्रति महीने खर्च भी है। अब जो अङ्क समाप्त हो जाता है उसे दुबारा छपाने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। तब तक काम रुका रहता है। एक साथ छप जाती, तो झंझट भी न रहता, खर्च भी कम लगता। दुबारा छपाने में खर्च भी अधिक लगता है समय भी अधिक लगता और झंझट चिन्ता व्याज में, किन्तु कागद की कमी के कारण यह सब सहना ही पड़ता है।

गत चौथे खण्ड में हमने सूचना दी थी, कि हमने अपना स्थाई मासिक कोटा स्वीकृत कराने के लिये युक्त प्रान्तीय सरकार के समीप प्रार्थना पत्र भेजा है। हमारी प्रार्थना विचाराधीन है 'हमें पूर्ण आशा है कि हमारी प्रार्थना शीघ्र ही स्वीकृत हो जायगी।' पूर्ण आशा इसलिये लिख दी थी कि जिनके सम्मुख यह बात विचार के लिये आती है, उन्होंने आशा दिलायी थी

कि कोई बड़ी बात तो है नहीं, आपको ८० रिम कागद प्रति महीने मिलने लगेगा। हम चकोर की तरह, पपीहा की भाँति आशा लगाये बैठे थे, दिन गिन रहे थे, आज्ञापत्र की प्रतीक्षा कर रहे थे, एक-एक करके ८ महीने बीत चुके थे, सहसा सरकार का निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ। समस्त आशाओं पर पानी फिर गया। "हा हन्त हन्त नालिनीं गजमुज्जहार।" वह पत्र यह था—

GOVERNMENT OF THE UNITED PROVINCES

Eood and Civel Supplies (B) Department

No. 864/XXIX-B (D)

Dated Lucknow, February 25, 1947

OFFICE MEMORANDUM

With reference to his application deted October 31, 1947 requesting for and alloutment of 80 reams of Paper per month for publishing the Book Bhagwati Ketha the undersigned has the honour to infrome the Manager, Sankirtan Bhawan, Jhusi, Allahabad that Government regret that they are unable to accede to his request.

(Sd.) Shri Pat.
For Commissioner

युक्त प्रान्तीय सरकार

खाद्य तथा नागरिक वितरण (बी०) विभाग

लखनऊ फरवरी २५ सन् १९४७ ई०

व्यवस्थापक संकीर्तन भवन, झूसी इलाहाबाद को, उनके ता० १३ अक्टूबर १९४६ ई० के पत्र पर जिसमें 'भागवती कथा' पुस्तक को छपाने के हेतु ८० रिम कागद मासिक के लिये प्रार्थना की गई थी, अत्यन्त दुःख के साथ विनीत भाव से सूचित करता हूँ, कि सरकार उनकी प्रार्थना को स्वीकार करने में असमर्थ है।

(ह०) श्रीपत
वास्ते कमिश्नर

अब क्या करें ? स्थाई कोटा न मिलने से प्रति मास पुस्तक कैसे निकल सकेगी ? एक उपाय और था, जिस किताबी कागद पर आज कल 'भागवती कथा' छपती है उसका प्रतिबन्ध (कन्ट्रोल) के अनुसार ११.९६ न० पै० प्रति रिम का भाव है। ८० रिम के ९५५) रुपया हुए। विलायती कागद पर प्रतिबन्ध (कन्ट्रोल) नहीं है। यह भी सुगमता से तो प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु पैसा पास में हो और प्रयत्न करने की सामर्थ्य हो, तो वह मिल जाता है। उसका भाव २२) २३) २४) २५) २६) रुपया प्रति रिम है। जैसे भी मिल जाय। अब सुना भाव फिर बढ़ने वाला है। यह सातवाँ खण्ड उसी विलायती कागद पर छपा है। अपेक्षाकृत पहिले कागद से यह शुद्ध अच्छा और चिकना अवश्य है, किन्तु मूल्य तो दुगुना है। इसे २२) रु० रिम के हिसाब से मोल लिया है। ८० रिम में देशी की अपेक्षा ८०५) रुपये अधिक लगे। भागवती कथा का मूल्य वैसे ही कम रखा गया है। फिर

प्रयाग से झूसी आने-जाने में छपाकर यहाँ लाने में, कार्यालय के नये-नये कार्यों में, खर्च अधिक होता है। अभी गत महीने यू०पी० सरकार की ही शिक्षा प्रसार समिति ने भागवती कथा की तीन-तीन सौ प्रतियाँ पुस्तकालयों के लिये ली थीं। २५) प्रतिशत कमीशन काटकर हमने दे दीं। इस पर एक प्रकाशक ने हमें बताया—आपने बड़ी भूल की। सरकार के यहाँ से दो आने तीन आने प्रति फार्म की स्वीकृति है। आपकी पुस्तक प्रायः १६ फर्म की होती है। २) लिख देते २५० न० पै० प्रति पुस्तक आपको मिल जाता। यों ०.९४ न० पै० में पुस्तक देने में तो आपको बड़ा घाटा रहेगा।

हमने कहा—"भैया, हम तो ये सब व्यापारिक दाँव-पेंच जानते नहीं। हमारा उद्देश्य तो जैसे हो तैसे 'भागवती कथा' का प्रचार करना है। यदि विलायती कागद का प्रबन्ध हो जाय, तो चाहें जैसे हो, हम प्रति मास इसे प्रकाशित करेंगे ही।"

'भगवती कथा' का प्रचार अधिक से अधिक हो सके इस-लिये हमने इसकी दक्षिणा कम-से-कम रखी थी। हमें सब से बड़ा लाभ यही है, हमारे बाल-बच्चों में कुछ धार्मिक संस्कार शेष रह जायँ, वे भारतीय आर्य संस्कृति को सर्वथा भूल न जायँ, जैसे शिक्षा हमारे बालक बालिकाओं को दी जा रही है, यदि यह क्रम एक शताब्दी तक और ज्यों-का-त्यों बना रहा, तो निश्चय ही हम व्यास, वसिष्ठ वाल्मीकि आदि महर्षियों के उपदेशों को ही न भूल जायँगे, अपितु इनके नामों को भी भुला देंगे। बहुत से राष्ट्रीय विचारों की प्रबलता से प्राचीन आर्य संस्कृति को देश के लिये घातक समझते हैं। वे आर्य सन्तान होने पर भी आर्य संस्कृति का सर्वनाश करने के लिये सतत् प्रयत्न कर रहे हैं—उनका विश्वास है, कि जब तक भारतीय आर्य अपने वेद, पुराण

वर्णाश्रम धर्म, परलोक आदि की रूढ़ियों को न भुलाकर पश्चिमीय सभ्यता के उपासक न बनेंगे, तब तक उन्नति नहीं, स्वराज्य नहीं, सुख नहीं। इसीलिये जिस प्रकार प्राचीनता का, प्राचीन कथा कहानियों का प्रचार रुके इसके लिये वे प्रतिदिन नई-नई योजनायें बनाकर शक्ति भर भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं।

एक विश्वसनीय बंधु ने बताया है, कि आधुनिक विचार वालों का कहना है कि यों व्यक्तिगत रूप से तो हमारी ब्रह्मचारी जी के प्रति श्रद्धा है, किन्तु वे जो यह धरम-करम का पचड़ा पीछे बाँधे फिरते हैं, इन बातों में हमारी श्रद्धा नहीं। 'भागवती कथा' के लिये कागद दिलाना, कागद का दुरुपयोग करना है। किसी अच्छे काम में कागद लगे तो उसका उपयोग है। हम इन पुरानी बातों का प्रचार अब नहीं चाहते। इन बातों से ही वर्तमान राष्ट्रीय विचार के नेताओं के भाव जाने जा सकते हैं, कि वे आर्य संस्कृति के कैसे कट्टर विरोधी हैं। 'भागवती कथा में अधिकांश शिक्षाप्रद पौराणिक कहानियाँ हैं और शास्त्रीय ढङ्ग से धर्म, सदाचार, आचार, व्यवहार और नीति आदि विषयों का प्रसङ्गानुसार विवेचन है। मैं दृढ़ता के साथ कहता हूँ, कि इसमें जैसी उत्कृष्ट कहानियाँ हैं, वैसी विश्व साहित्य में कहीं भी न मिलेंगी। आज जो पश्चिमीय लेखकों के लिखे या उनकी शैली पर उनके हाव-भाव का अनुसरण करते हुए लिखे उपन्यास, नाटक तथा कहानियाँ समाज में विष के बीज का वपन कर रही हैं, ये कहानियाँ युवक, युवतियों की वैषयिक प्रवृद्धि को उभारकर उन्हें व्यभिचार के गर्त में गिराने को प्रोत्साहित करती हैं। ये धर्म-कर्म से रहित आचार, विचार और सदाचार से हीन साहित्य, विषय सुख को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करके नर-नारियों के मन में वैसे ही भावों को भरता है। इससे जो दुष्परिणाम होता है, वह हमारे

सामने है। 'भागवती कथा' को लोग पढ़ते नहीं। पढ़ें कैसे? उनकी इधर प्रवृत्ति नहीं होती। धर्म का नाम सुनते ही वे चौंक जाते हैं। मेरा विश्वास है यदि इसे लोग एक बार भी पढ़ लेंगे, तो उनके मन का भ्रम दूर हो जायगा।

ब्रह्मचारी जी से जब लोग कहते हैं—"आप इतने उत्साही और कर्तव्य परायण व्यक्ति होकर इन पौराणिक कथाओं के पीछे अपनी शक्ति का ह्रास क्यों कर रहे हैं? क्यों अब हजारों वर्षों के पृथ्वी में गड़े हुए मृतक पुरुषों के शरीर को उखाड़ रहे हैं? कुछ देश सेवा करिये, समाज का काम कीजिये।"

इस पर हम उनसे कहते हैं—"भाई, प्राचीन वस्तुओं के संग्रहालयों में आप पुरानी-पुरानी वस्तुएँ लाकर रखते हैं, उस पर द्रव्य भी व्यय करते हैं, लोगों को दिखाते हैं—अमुक वस्तु ५ हजार वर्ष पूर्व की है। अमुक चित्र इतने दिन का है। तो कुछ प्राचीन आचार, विचारों और क्रिया कलापों की भी तो रक्षा करो पुराने खँडहर, भवनों को राजाज्ञा से सुरक्षित रखा जाता है। उसकी एक-एक ईंट सावधानी से रखी जाती है। उसे कोई तोड़ नहीं सकता, नष्ट नहीं कर सकता। फिर तुम प्राचीन कहानियों, भावों और संस्कृति के ऊपर कुल्हाड़ी लिये उसका जड़-मूल से नाश करने को क्यों तुले हो? विदेशी राष्ट्र भी प्राचीन खोज के लिये कितना द्रव्य व्यय करते हैं। उस दिन प्रयाग विश्वविद्यालय के विधान महाविद्यालय (ला कालेज) के आचार्य (प्रिन्सपल) पं० आनन्दी प्रसादजी दूबे, न्याय मन्त्री पं० कैलाशनाथजी काटजू से कह रहे थे, कि ब्रह्मचारी जी जैसी पुस्तक लिख रहे हैं, यदि विलायत में ऐसी पुस्तक कोई लेखक लिखता, तो उस पर सरकार की ओर से लाखों रुपये व्यय किये जाते और आपकी सरकार उन्हें कागद तक नहीं देती।

बात यह है, कि स्वतन्त्र देश वाले अपनी संस्कृति को सुर-

षित रखना चाहते है। हम शताब्दियों से दासता में रहते-रहते और पश्चिमी आचार, विचार और शिक्षा-दीक्षा में पलने के कारण अपने प्राचीन गौरव को भूल गये है। हमारी दृढ़ धारणा हो गई, है, कि जब तक हम ईसाई, मुसलमानों की प्रत्येक बात का अनुकरण न करेंगे, जब तक इन वेद पुराण पन्थियों के सभी विचारों का सर्वनाश न कर देंगे, तब तक सभ्य न बन सकेंगे। इसी का आज यह परिणाम है, कि हिन्दुत्व के विनाश के निमित्त नित्य नये विधान बनाकर उनके सिर पर लादे जा रहे हैं। विधर्मियों को प्रसन्न करने के निमित्त कैसी-कैसी धर्म विरुद्ध बातें कर रहे हैं। इन सब बातों को समाचार पत्रों के विवेकी पाठक जानते ही होंगे। यहाँ उनका उल्लेख करके हम विषयान्वर करना नहीं चाहते।

हमारा दृढ़ विश्वास है, कि धर्म के बिना न हिन्दुत्व की ही रक्षा होगी, न संगठन ही होगा और धर्म विहीन राष्ट्रीयता इस भारत में कभी सफल न होगी। 'भागवती कथा' का एक मात्र उद्देश्य मानव-धर्म वर्णाश्रम धर्म का प्रचार करना है। आज यदि ईसाई और मुसलमनों की कोई ऐसी पुस्तक निकलती तो उसके लिए बड़े से बड़ा ईसाई बड़े से बड़ा मुसलमान प्रयत्न करता। आज आप बाइबिल, कुरान जितनी चाहें ले सकते हैं, किन्तु कन्याकुमारी से हिमालय तक रामायण की पुस्तकें सभी बाजारों में अप्राप्य हैं। बड़े-बड़े प्रकाशकों के यहाँ नहीं हैं। यह दूसरों का दोष नहीं, अपना ही दोष है।

"अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूपणम्"

'भागवती कथा' के पास न कोई कोष है, न कोई स्थाई आय। नित्य कुआ खोदना नित्य पानी पीना। प्रतिबन्ध के भाव पर कागज मिल जाता, तब तो सरलता से अमिम अंक छप जाते। आब तो इतने मँहगे कागद पर छपना बड़ा कठिन है।

फिर इस भाव पर भी विलायती कागद मिलता रहेगा, इसका भी निश्चय नहीं।

जब हमें यह पत्र मिला तभी हमने फिर आदमी भेजकर अधिकारियों के द्वार को खटखटाया। नीचे से ऊपर तक सब के पास गये। यहाँ तक कि सरपंच को इसके लिये विवश किया। अन्त में बहुत कहने सुनने पर सरकार का यह पत्र मिला—

No. XXIX-B (D. 1)-45 (3) /47

From,

The Commissoner,
Food and Civil Supplies
UNITED PROVINCES.

To,

The Provincial Paper Controller.
U. P. ALLAHABAD.
Dated Lucknow March 31, 1947.

Sir,

I have the honour to forward in original an application dated February 12, 1947 from Mr. Prabhu Datt Brahmchari of the Sankirtan Bhawan Allahabad, and to say that he may be allotted special ad-hoo quota of 40 reams.

I have the honour to be,
Sir,
Your most obedient servant
(Shri Pat)
For Commissioner.

No. /XXIX-B (D-4)-26(5) /46

Copy forwarded to Mr. Prabhu Datt Brahmchari Jhusi, Allahabad for information.

सं० ।।   —बी० (डी०—१)—४३ ( ) ।। ४४
प्रेषक—

कमिश्नर,
खाद्य तथा नागरिक वितरण, संयुक्त प्रान्त, लखनऊ
प्रान्तीय कागज नियंत्रक, संयुक्त प्रान्त, इलाहाबाद
खाद्य तथा नागरिक वितरण (बी०) विभाग
तारीख लखनऊ, मार्च ३१, १९४७ ई०

महोदय,

सेवा में मैं संकीर्तन भवन, झूसी इलाहाबाद के मिस्टर प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का मूल प्रार्थना पत्र भेजता हूँ तथा सूचित करता हूँ कि उनको विशेष रूप से इस प्रयोजन के लिए ४० रिम कागज का कोटा दिया जाय।

आपका—
(ह०) श्रीपत
वास्ते कमिश्नर

नकल श्रीमान् प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, झूसी इलाहाबाद के सूचनार्थ—

स-आज्ञा
(ह०) श्रीपत
वास्ते कमिश्नर

अब आप ही सोचें ४० रिम से क्या होगा ? एक खण्ड के लिए भी नहीं है। सो भी स्थाई नहीं, केवल एक बार के लिये है। यह तो वही बात हुई कि भिखारी बहुत अड़ता है, तो इसे मुट्ठी भर अन्न देकर विदा कर दो। हाय ! कैसा समय आ गया ? प्राचीन काल में बड़े लोगों के पास भिक्षुक जाते थे। मनमानी

वस्तु पाते थे, अब माँगने भी जाते हैं तो कागद। सो भी मूल्य देकर, केवल स्वीकृति माँगने। वह भी मिलती नहीं। जान बूझकर अधिकारी न देते हों सो भी बात नहीं। देश में और विशेष कर युक्तप्रान्त में कागज की अत्यन्त कठिनाई है। सुना है कागद की एक बड़ी मिल बन्द पड़ी है एक मिल में चिरकाल से हड़ताल है। जितना कागज का कोटा इस प्रान्त के लिये स्वीकृत है, उतना कागद यातायात की अव्यवस्था के कारण आ नहीं सकता। अतः गत ४ महीनों से प्रान्त में कागद की त्राहि-त्राहि मची हुई है। बड़े-बड़े प्रकाशक बेकार बैठे हैं। समाचार पत्रों के कागद से प्रतिबन्ध ('कन्ट्रोल) उठ गया है। 'भागवती कथा' तो पुस्तकी कागद पर छपती है। सुना है अब उस पर से भी प्रतिबन्ध उठने वाला है। यदि प्रतिबन्ध उठ गया, तो सम्भव है कागद का भाव और भी अधिक तेज हो और कुछ काल के लिये तो मिलना ही दुर्लभ हो जाय। अतः हमारी 'भागवती कथा' के पाठकों से यही विनीत प्रार्थना है कि आगे के खण्डों में परिस्थिति के कारण कुछ देर सबेर हो जाय तो वे बुरा न मानें प्रयत्न हमारा यही रहेगा कि खण्ड समय पर प्रकाशित हों, किन्तु सर्व साधन विहीन होने से यदि हम शीघ्र प्रबन्ध न कर सकें, तो पाठक धैर्य रखें। अब पहुँचने में गड़बड़ी तो हो नहीं सकती, क्योंकि अब हमने सभी ग्राहकों को रजिष्ट्री से भेजने का निश्चय कर लिया है। पाँचवे छठे खण्ड रजिष्ट्री से पहुँचने से ही हमारे पास सैकड़ों पत्र आ रहे हैं हमें तीसरा खण्ड नहीं मिला, हमें चौथा खण्ड नहीं मिला। चौथा खण्ड बहुत खोया है। अब दुबारा खण्ड भेजने से हमारे पास बचते ही नहीं। अब तक तो लिखते थे, उन्हें बिना मूल्य फिर से भेज देते थे। इससे अनेक प्रकार की और भी गड़बड़ियाँ हो गईं। इसलिए अब जिन्हें जो खण्ड मँगाने हों उसे दाम देकर मँगावें। कागद कितना भी मँहगा हो, दक्षिणा तो हम बढ़ा नहीं

सकते। क्योंकि कथा कहने वालों से लोग वैसे ही बहुत प्रसन्न नहीं रहते। यदि वे भी अपनी दक्षिणा में वृद्धि के लिए कुछ वर्तमान आन्दोलनों की भाँति प्रयत्न करें तो वे सफल न होंगे। आज से हजार दो हजार वर्ष पूर्व इस देश में धर्म भाव था। प्रत्येक धार्मिक कार्यों में गोदान का विधान है। बात-बात पर गोदान होता था। उन दिनों देश में असंख्यों गौएँ थीं। नित्य लाखों गौओं का दान होता था। उस समय साधारणतया १. २५ न० पै० में अच्छी गौ मिल जाती थी और ०. ३१ न० पै० में बछिया, तभी यह नियम हुआ, कि किसी अवसर पर गौ न मिल सके, तो १. २५ न० पै० उसका निष्क देकर गौदान दिया जाय। तब से जो १. २५ न० पै० बँधा सो बँध गया। अब अच्छी गौ ५००) में भी नहीं मिलती, किन्तु ब्राह्मण को गौदान देना होगा, तो १. २५ न० पै० ही देंगे। सबका वेतन शुल्क बढ़ गया, किन्तु कथा कहने वालों की दक्षिणा नहीं बढ़ी। इसलिये 'भागवती कथा' की दक्षिणा तो १. २५ न० पै० ही रहेगी। इसमें वृद्धि करना सदाचार के विरुद्ध है, किन्तु रजिस्ट्री के १. १२ न० पै० तो न्यायानुसार पाठकों को देने ही चाहिये। अगले वर्ष से अग्रिम दक्षिणा वी० पी० के साथ यह भी लिये जायँगे। इस वर्ष तो स्वतः ही भेज देने चाहिये।

हाँ, तो अब कागद की कटु कथा को समाप्त करके मधुराति-मधुर भागवती कथा को आरम्भ करते हैं। छठे खण्ड से आगे की कथा को सुनिये। भागवती कथा के पाठकों में कोई कागदी हों जिनका देशी-विदेशी किसी प्रकार के कागद से, कैसा भी प्रत्यक्ष या परम्परा से सम्बन्ध हो वे ८० रिम प्रति मास कैसा भी किसी भी भाँति का कागद दिलाने की सट्ट-पट्ट कर सकते हों, तो स्मरण रखें और क्या ? भगवान् का काम है, भगवान् ही करेंगे, किसे किस समय, किस कार्य के लिये, कब

कैसे किसके द्वारा, किस भाँति वे निमित्त बनाते हैं, कैसे वे कागद पहुँचाकर "भागवती कथा" को घर-घर पहुँचाते हैं ? वे ही जानें। जिसके जिम्मे जो कार्य कर देंगे उसे वह इच्छा से अनिच्छा से करना ही पड़ेगा। मनुष्य अभिमान करता है— यह मैंने किया, यह मेरे द्वारा हुआ, नहीं तो करने कराने वाले तो वे ही श्रीहरि हैं।

छप्पय

हरि की इच्छा बिना हिले नहिँ पत्ता भाई।
हरि ने ई यह स्वयं कथा अपनी लिखवाई॥
भक्तनि हिय हरि बैठि सुनें वे ई बचवावें।
वे ई करि उद्योग स्वयं छापें छपवावें।
पाठक ! चिन्ता मति करो, सब कछु वोई करिंगे।
अघहारी हरि अवसि ई, चिन्ता सब की हरिंगे॥

सतुआ संक्रान्ति, सं० २०२४ वि०
संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
प्रकाशक की ओर से—

ब्रह्माजी की उत्पत्ति

[१२६]

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकाया—
मवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्र—
श्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥१

(श्री भा० ३ स्कं० ८ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

अच्छा अब उत्पत्ति सृष्टि की तुम्हें सुनाऊँ ।
ज्यों हरि माया सग रचें सब क्रम बतलाऊँ ॥
नाभि कमल तैं ब्रह्म भये जलई जल पेखें ।
ऊपर नीचे निरखि जनक हरि कूँ नहिँ देखें ॥
विफल मनोरथ जब भये, योग ध्यानमहँ लगि गये ।
योग भाव भावित हृदय, महँ दरशन हरि के भये ॥

सृष्टि-क्रम यद्यपि रूखा विषय है, किन्तु जब तक इसे बार-बार सुनेंगे समझेंगे नहीं, तब तक इसमें बिखरी हुई वृत्ति एकाम नहीं हो सकेगी। किसी प्रकार पूरी तरह यह दृढ़ धारणा

१ मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुर ! जब भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, तब वे उस कमल कोष पर बैठकर सम्पूर्ण जगत को न देखकर आश्चर्य से चारों ओर गर्दन मोड़-मोड़कर आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे। इसलिये चारों दिशाओं में देखने को उनके चार मुख हो गये।"

हो जानी चाहिये की जगत् में सर्वत्र वे ही हरि व्याप्त हैं। उनके बिना न जगत् की सत्ता है, न जीव की सत्ता। विषयों में जो एक प्रकार का स्वाभाविक राग हो गया है, उसे हटाने का एकमात्र उपाय यही है, कि इन विषयों के मूल कारण को समझें। यही सब सोचकर सूतजी मुनियों से कहते हैं— "मुनियो! यद्यपि मैं यहाँ सृष्टि के विस्तार में जाना नहीं चाहता, किन्तु इस विषय को एकदम छोड़ भी नहीं सकता। विस्तार में जाने से कथाओं में विरसता आ जायगी, छोड़ने से कथा प्रसङ्ग भंग हो जायगा। अतः इस विषय को अत्यन्त ही संक्षेप में सुनाकर, तब मैं कथाओं उपाख्यानों को सुनाऊँगा। मेरे गुरुदेव भगवान् शुकदेव ने राजा परीक्षित् को जो सृष्टि का विषय विस्तार से बताया है, उसे ही संक्षिप्त करके मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। महाराज परीक्षित् के पूछने पर श्रीशुक कहने लगे।

श्रीशुक बोले—"जिस समय प्रलय के जल से यह सम्पूर्ण जगत् डूब गया, तो उस एकार्णव हुए जल में भगवान् नारायण योगनिद्रा की तकिया बनाकर सो गये। जो सोता है वह कभी जागता है, 'सोया सो खोया, जागा सो पाया'। नारायण देव सो गये, जगत् खो गया। जब जागे तब काल शक्ति को लेकर इधर-उधर खोये हुए जगत् को ढूढ़ने लगे। घर में खोई वस्तु घर में ही मिलती है। वहीं जल में जगत् खोया था, वहीं पड़े-पड़े नारायणदेव ने अपने में लीन हुए सूक्ष्म भूतों की ओर दृष्टिपात किया। काल के साथ रजोगुण भी मिलकर खोजने में सहायता देने लगा. छोटा मोटा शरीर होता तो शीघ्र ढूढ़ भी लेते, शरीर तो इतना बड़ा है, कि असंख्यों ब्रह्माण्ड उसमें कीटाणुओं की भाँति घूम रहे हैं। काल ने देखा—"अरे, जगत् तो भगवान् की नाभि में छिपा है। भगवान् शयन कर रहे हैं। नाभि में छिपी वस्तु को बिना

ऊपर उठाये कैसे दिखावें, इसलिये उस नाभि से उसे ऊपर उठाया।

ऊपर उठाने से उसमें एक नाल उत्पन्न हो गया और उस नाल में एक सुन्दर-सा खिला हुआ सुगन्धित कमल भी हो गया। सुन्दर

खिले कमल को देखकर भगवान् का मन लुभा गया। वे मन से उसमें प्रवेश कर गये। जहाँ अन्तर्यामी की इच्छा उसके भीतर पहुँची, उनमें से एक मूर्तिमान् देवता उत्पन्न हुए। भगवान् की इच्छा से उत्पन्न हुए अतः वे सूक्ष्म तो थे, किन्तु भगवान् की अपेक्षा बहुत स्थूल थे। उन्हें जल के अतिरिक्त न भगवान् दिखाई दिये न उनकी कोई शक्ति ही। वे इधर-उधर चौंककर देखने लगे। इससे चारों ओर उनके चार मुख हो गये इसीलिये उनका नाम चतुरानन हुआ स्वयं उत्पन्न हुए इसीलिये स्वयंभू कहाये।"

अब स्वयंभू देव के हृदय में ऊहापोह होने लगी—मैं कौन हूँ कहाँ से उत्पन्न हुआ, मेरे जनक कौन हैं? पूछें किससे? अकेले ही ठहरे, इसलिये उस कमल की नाल में घुसे, कि कहीं तो उसकी जड़ होगी। वे घुसते ही चले गये, उसका ओर नहीं, छोर नहीं, अन्त नहीं। धत्तेरे की, यह तो द्रौपदी का चीर हो गया। ब्रह्माजी थककर लौट आये। क्या करें? बड़े घबराये, अच्छे फँसे, सोचा—अब बाहर मत देखो, अपने भीतर ही ध्यान करो। बाहर की चिन्ता छोड़कर वे ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते हृदय में ही उन्हें भगवान् के दिव्य दर्शन हुए। उन दर्शनों से आदि देव की दृष्टि चकाचौंध हो गई। शेषशैया पर लेटे हुए वे मूर्तिमान् सौन्दर्य शरीरधारी आनन्द, विग्रहवान् सुख, सजीव शान्ति और आह्लाद की घनराशि ही दिखाई दिये। वस्त्राभूषणों से वे इतने सुसज्जित थे, कि ब्रह्माजी अवाक् रह गये, किंकर्तव्यविमूढ़ बने हक्के-बक्के से रह गये। फिर कुछ सम्हल कर हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से स्तुति करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उस ब्रह्मस्तुति का एक-एक शब्द अमूल्य है, उसका वर्णन स्तुति प्रकरण में फिर कभी करूँगा। समस्त वेद शास्त्रों का सार उस स्तुति में है। इतनी बड़ी स्तुति करने पर भी जब वे आनन्दमूर्ति कुछ न बोले, तो बोलते-बोलते

ब्रह्माजी थक गये, हार गये, हाँफते-हाँफते चुप हो गये। जीव जब अपनी शक्ति से निराश होकर थक जाता है, तब श्यामसुन्दर उसे शक्ति प्रदान करते हैं। निर्बल के बल राम। ब्रह्माजी को उदास देखकर भगवान् बोले—"चतुरानन! थक गये क्या? मैं तुम्हारे अभिप्राय को जानता हूँ, मेरी इच्छा से ही तुम्हारे मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई तुम सृष्टि रचना में उद्योग करो, साहस मत छोड़ो, उत्साह से काम लो धैर्य धारण करो, अतन्द्रित होकर प्रयत्न करो, आलस्य का क्या काम, घबड़ाने की कौन-सी बात है? सृष्टि की सब सामग्री तो मैंने पूर्व से ही जुटा रखी है। अब तुम फिर ध्यान लगाओ। जैसे मेरे दर्शन तुम्हें अन्तःकरण में ही हुए हैं, वैसे ही सृष्टि रचने की सब सामग्री भी तुम्हारे भीतर ही दिखाई दे जायगी। सम्पूर्ण जगत् जञ्जाल अपने आप ही तुम्हारे सम्मुख आ जायगा।"

ब्रह्माजी घबराये और बोले—"महाराज उस जाल में कहीं मैं न फँस जाऊँ।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"ब्रह्माजी फँसते वे हैं जो मुझे भूलकर अपने को ही कर्ता मान बैठते हैं, जो मेरी कृपा की अपेक्षा नहीं रखते, जिन पर मेरी कृपा है, जो मुझे कभी भूलते नहीं, जो मुझे ही कर्ता मानकर अपने को मेरा यन्त्र मानते हैं, वे सब कुछ करते हुए भी कभी जगत् जाल में नहीं फँसते। तुम्हारे ऊपर तो मेरी पूर्ण अनुग्रह है, तुम इसमें नहीं फँस सकते। सृष्टि के लिये मुझे मन में रखकर तुम निःशङ्क होकर उद्योग करो।

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। ब्रह्माजी ने फिर अपने को उसी प्रलय के जल में अकेले पद्म पर बैठे देखा अब तो ब्रह्माजी निःशङ्क हो गये। भगवत् आज्ञा पाकर वे तपस्या में प्रवृत्त हुए। तपस्या करने से उन्हें सृष्टि विषयक सम्पूर्ण ज्ञान हुआ। तब उन्होंने उस कमल को चौदह भागों में बाँटकर उसी में

चौदह भुवनों की कल्पना की और इन चौदह लोकों में दस प्रकार की सृष्टि उत्पन्न की।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दस प्रकार की सृष्टि कौन-कौन-सी है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुख्यतया सृष्टि दो प्रकार की है, सूक्ष्म और स्थूल। इसी को प्राकृत और वैकृत कहते हैं। तीनों गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं, तो उसी का नाम 'प्रकृति' है। जब तीनों गुणों में विषमता होने से जो एक महान् तत्व उत्पन्न होता है उसी का नाम 'महत् तत्व' है। यह प्रथम प्राकृत सृष्टि है। महत्तत्व से 'अहंकार' उत्पन्न होता है यह दूसरी है। सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होने से यही पञ्चभूत ज्ञानेन्द्रियं और कर्मेन्द्रियों को भी उत्पन्न करता है। पञ्चतन्मात्राओं की तीसरी सृष्टि है। चौथी सृष्टि इन्द्रियों की है और पाँचवीं इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों की तथा मन की है। छठी सृष्टि तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि पाँच प्रकार की अविद्या की है, जो जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करती हैं। ये छः तो प्राकृत हैं, अब चार वैकृत सृष्टि का वर्णन करते हैं। पहले वृक्षादि की स्थावर. सृष्टि दूसरी पशु-पक्षी आदि की, तीसरी मनुष्यों की, चौथी पृथ्वी से ऊपर के लोक वाले देवता असुर गन्धर्व आदि की दैव सृष्टि इस प्रकार ६ प्राकृत और चारवैकृत—ये ही दस प्रकार की सृष्टि हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"इन सनकादि देवताओं की गणना प्राकृत में है या वैकृत में?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"महाभाग! इन आदि ऋषियों को प्राकृत भी कह सकते हैं और मनुष्यों का-सा शरीर धारण करके विचरते हैं, इसलिए वैकृत भी कह सकते हैं। इसलिये

इन्हें प्राकृत, वैकृत मिला-जुला समझना चाहिए। यही दस प्रकार की सृष्टि है।"

इस प्रकार सृष्टि के विचार के साथ काल का विस्तार होता है। ब्रह्माजी अपने बहुत से प्रजापतियों के रूप बनाकर इस सृष्टि को बढ़ाते हैं। विष्णु भगवान् इन्द्र, मनु, ऋषि, मनुपुत्र, देव तथा अवतार आदि अनेक रूप धारण करके बनाई हुई सृष्टि का पालन करते हैं। अन्त में रुद्रदेव काल रूप से सभी का संहार करते हैं। कल्प के अन्त में तीनों लोकों का संहार करके ब्रह्माजी सो जाते हैं उतनी ही बड़ी रात्रि का अन्त होने पर फिर सृष्टि करने लग जाते हैं। उनके एक वर्ष में तीन सौ साठ कल्प होते हैं। ऐसे सौ वर्षों तक ब्रह्मा रहकर बदल जाते हैं। यही सृष्टि का क्रम सनातन से चला आ रहा है। इसका न ओर है न छोर। जैसा यह एक ब्रह्माण्ड है, ऐसे असंख्यों ब्रह्माण्ड उनके एक रोम कूप में फैल फूट कर पड़े हुए हैं। वे ही हरि सब कारणों के कारण हैं। उन्हीं की शरण में जाने से जीवों के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो सकती है।

ब्रह्माजी ने सबसे पहले तम (अविवेक) मोह (अन्तःकरण में विभ्रम) महामोह (ग्राम्य सुखों की वासना) तामिस्र (क्रोध) और अन्धतामिस्र (मरण) इन पाँच प्रकार की अज्ञान वृत्तियों को उत्पन्न किया—फिर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार ऋषियों को। इनसे जब सृष्टि बढ़ाने को ब्रह्माजी ने कहा और इन्होंने नहीं स्वीकार किया, तो रोष आ जाने से रुद्र की उत्पत्ति हुई। रुद्रदेव ने सृष्टि को बढ़ाना तो स्वीकार किया, किन्तु अपने ही समान, भूत-प्रेत पिशाचों को बनाया। यह देखकर ब्रह्माजी घबड़ाये, कि यह सम्पूर्ण संसार इन भूत-प्रेतों से ही भर जायगा। इसलिये उन्हें सृष्टि कर्म से रोककर तप करने की आज्ञा दी। रुद्रदेव पिता की आज्ञा पाकर तप में लग गये।

अब ब्रह्माजी ने बड़ी सावधानी से चित्त को एकाग्र करके अपने ही समान दस पुत्र उत्पन्न किये। जिनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद हैं। ये सब बिना मैथुन के, संकल्प से ही ब्रह्माजी के पृथक्-पृथक् अंगों से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्माजी के स्तन से धर्म और पीठ से अधर्म भी उत्पन्न हुए हैं फिर काम, क्रोध, लोभ, सरस्वती, समुद्र, निर्ऋति तथा छाया से कर्दम ऋषि उत्पन्न हुए। फिर वेद, उपवेद, वर्ण, आश्रम यज्ञ आदि सबको उत्पन्न किया।

अब वे बार-बार अपने पुत्रों से कहने लगे—"भैया, सृष्टि करो, भैया, सृष्टि करो। किन्तु सृष्टि में उन सबकी प्रवृत्ति ही नहीं होती थी, जैसे लोगों की सन्ध्या वन्दन और पूजन में आजकल प्रवृत्ति नहीं होती। भगवान् को छोड़कर ऋषि-मुनि क्यों सृष्टि के पचड़े में पड़ने लगे। उनके सम्मुख कोई आकर्षण तो था ही नहीं। ब्रह्मा बाबा के वाक्य ही प्रमाण थे, किसी ने मानकर दस-बीस मानसिक बच्चे पैदा किये, ये लोग भी पैदा होते ही लँगोटी लगाकर तप करने चले गये। ब्रह्माजी उनके पास दौड़े-दौड़े पहुँचे। 'भैया, इस तप-फप में क्या रखा है, इसे पीछे ही कर लेना, पहिले सृष्टि करो।' बेटा तो बाप का कुछ शील संकोच करता भी है। पर बेटे का बेटा तो किसी बात को मानता है, किसी को नहीं। किसी ने शील संकोच में पड़कर दस-बीस मानसिक बच्चे पैदा कर दिये, किसी ने कह दिया—बाबाजी, तुम बूढ़े हुए, फिर भी तुम्हें हर समय सृष्टि की ही चिन्ता बनी रहती है। अपनी सफेददाढ़ी की ओर देखो, कुछ राम-राम भी करो, इस प्रपञ्च में ही फँसे रहने से क्या लाभ ?"

अपने पौत्रों के मुख से ऐसी बातें सुनकर ब्रह्माजी का मुख फक पड़ गया। अरे, ये कल के छोकरे मुझे ही उपदेश देने चले हैं। भैया, ऐसे काम न चलेगा। बिना प्रलोभन पैदा किये सृष्टि बढ़

नहीं सकती। ऐसे में कब तक दौड़-दौड़ कर सबसे अनुनय विनय करता फिरूँगा। बेगार का काम तो ऐसा ही होता है, बे-मन की बात, शील संकोच से की हुई क्रिया फलदायिनि नहीं होती। सृष्टि बढ़ाने का यह उपाय उपयुक्त नहीं, कुछ और उपाय करना चाहिये। ऐसा सोचकर चिन्तित होकर ब्रह्माजी भगवान् का ध्यान करने लगे।

छप्पय

स्तुति विधि ने करी ईस हँसि आयसु दीन्हीं।
सृष्टि पूर्ववत रचो सुनत दश विधि की कीन्हीं॥
अत्रि, अंगिरा पुलह दक्ष भृगु श्री नारद मुनि।
रचे वसिष्ठ, मरीचि और क्रतु मुनि पुलस्त्य पुनि॥
इन मानस सब सुतनि ते, वृद्धि सृष्टि की नहिं भई।
चिंतित चतुरानन भये, युक्ति विचारी पुनि नई॥

सृष्टि रचना के निमित्त परम मोहक सामग्री

(१२७)

दृष्ट्वैकान्तिक भूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः ।
स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसामतिर्हृता ॥१
कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥२

(श्री भा० ३ स्क० १२ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

सृष्टि करन कूँ कहैं जिन्हीं तें ते खिसियावें ।
बे मन तें कछु करें, कछू बहु बात बनावें ॥
विधि हरि को करि ध्यान देहतें नारि बनाई ।
आधे तें नर भये नारि लखि बुद्धि लुभाई ॥
इक्के-चक्के सब भये, सृष्टि करन इच्छा भई ।
मृगनयनी मनहरमुखी, सतरूपा मन कूँ दई ॥

सचमुच, यदि सृष्टि सन्ध्या वन्दन की भाँति कर्तव्य समझ

---

१ सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने देखा सभी ऋषि मुनि सृष्टि करने में उदासीन हैं, तो उन्होंने अपनी आधी देह से स्त्री की रचना की, जिसके द्वारा सबों की बुद्धि भुला गई ।

सृष्टि बढ़ाने की चिन्ता में बैठे हुए ब्रह्माजी का शरीर सहसा दो भागों में बँट गया । इसीलिये 'क' ब्रह्मा से होने के कारण इस शरीर का नाम काय हुआ । उन दोनों रूपों के पृथक्-पृथक् हो जाने से—एक स्त्री, एक पुरुष इस प्रकार जुगल जोड़ी बन गयी ।

कर की जाय, इसमें दोनों ओर से आकर्षण न हो तो ये, इतने नगर, ग्राम, पुर तथा चारों ओर स्त्री पुरुषों से भरे जनपद दिखाई न दें। जैसे कुछ धर्मात्मा पुरुष वेद की आज्ञा मानकर सन्ध्या वन्दन करते हैं, उसी प्रकार जहाँ-तहाँ विरले स्त्री पुरुष दिखाई दें। इसी प्रकार यदि माता के मन में बालक के प्रति स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न न हो, उस बच्चे का हृदय से चिपकाने में, उसके मल मूत्र साफ करने में आन्तरिक प्रसन्नता न हो, तो बहुत से बच्चों का जन्म होते ही अन्त हो जाय। भगवान् ने माता पिताओं के हृदयों में ऐसा आकर्षण उत्पन्न कर दिया है कि सृष्टि का कार्य अबाधित रूप से बिना किसी के कहे, बिना सिखाये पढ़ाये स्वतः चलता रहता है और सदा चलता रहेगा। कलियुग में कला के नाम पर कुछ माता रूप में राक्षसी पैदा होते ही बच्चे को अपने से पृथक् कर देती हैं। स्वास्थ्य के नाम पर उत्पन्न हुए स्तनों के दुग्ध को विशेष क्रिया से रोककर नौकरों के द्वारा गौ आदि के बाहरी दूध से बच्चों का पालन कराती हैं। वे हाथ पैर वाले लड़की लड़के तो देखने में हो जाते हैं, किन्तु माता का जो 'पुत्र पुत्री को प्यार प्राप्त होना चाहिये, वह उन्हें नहीं होता। ऐसी सन्तानें माता को बालक पैदा करने का एक यन्त्र समझती हैं। उनके प्रति उनका स्नेह नहीं, आकर्षण नहीं प्रेम नहीं, ममत्व नहीं। वृद्धि होने पर उन्हें अनाथालयों में भरती कराके निश्चिन्त हो जाते हैं। स्नेह तो माँ के हृदय से, लगने से प्रेम का दुग्धपान करने से, बार-बार चूमने चाटने से, हर समय समीप रहने से बढ़ता है। कुछ कलाकार गौओं के वत्सो को भी उनकी माता से जन्म होते ही पृथक् कर देते हैं। जन्म के समय माँ की आँखों में पट्टी बाँध देते हैं, उसे देखने चूमने चाटने तक नहीं देते। दूसरी गौओं का दूध पिलाकर उन्हें बढ़ाते हैं। बिना बछड़े के माँ के स्तनों से दूध निकालते हैं। उस दूध मे और

रक्त में कोई अन्तर नहीं। मनुष्य अपने स्वार्थवश पशुओं के स्वाभाविक प्रेम को हरता है ये सब क्रियायें सृष्टि के लिये अत्यन्त हानिकारक हैं। मोह ममता से रहित सन्तानें एक दूसरे के रक्त की प्यासी बन जाती हैं। वे राग द्वेष के वशीभूत हो सदा रक्तपात में ही संलग्न रहती हैं। धर्म से हीन होकर विषय भोगों के लिये सदा लड़ती झगड़ती रहती हैं।

इसीलिये ऋषियों का कथन है, यदि तुम्हें विषय का भोग करना ही है, तो धर्म को बीच में करके करो। धर्महीन विषय-भोग, दुःख, नरक, यातना तथा क्लेशों को देने वाले होते हैं। इनसे इस लोक में सुख नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। परलोक में सुगति नहीं, सुयश नहीं, और इनसे भी सुन्दर दिव्य भोगों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये पहिले ब्रह्माजी के स्तनों से धर्म उत्पन्न हुआ। धर्मपूर्वक हुए विवाह से धर्मपूर्वक हुई संतान, माता के स्तनों का धर्मपूर्वक पान करे, तो वह सन्तान धर्मात्मा होती है।

ब्रह्माजी ने जब देखा कोरे कर्तव्य के सहारे सृष्टि की वृद्धि असम्भव है, तब तो वे बड़े घबराये। आसन मार, एकाग्रचित्त होकर, दृढ़ संकल्प द्वारा भगवान् का ध्यान करने लगे और उनसे प्रार्थना करने लगे—"हे प्रभो! कोई ऐसी आकर्षक वस्तु उत्पन्न करो, जिससे लोग विना कहे, स्वतः ही अपने आप सृष्टि में उल्लास के साथ प्रवृत्त हो जायँ। ब्रह्माजी तो सत्य संकल्प ठहरे। उनकी प्रार्थना तो अमोघ होती है, कभी व्यर्थ जाने वाली नहीं। अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गये। एक भाग से तो नर हुआ और एक भाग से ऐसी सुन्दर, ऐसी आकर्षक, ऐसी मन मोहक नारी हुई कि उसे देखते ही सब हक्के-बक्के रह गये। उनकी खटकती हुई माला रुक गई। सब आँख फाड़-फाड़कर

उसी ओर देखने लगे। बीच में ब्रह्माजी के हृदय से उत्पन्न हुआ काम खड़ा था। पास ही स्तनों से उत्पन्न हुआ धर्म खड़ा था।

जब वे काम को देखते तब, तो चित्त और भी अधिक चञ्चल हो जाता। धर्म की ओर दृष्टि डालते तो आँखें नीची हो जातीं। माला को फिर खटकाने लगते। ब्रह्माजी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

बड़े प्रसन्न हुए, मार ली बाजी, मिल गई सृष्टि बढ़ाने की कुञ्जी, हो गया मेरा संकल्प पूर्ण। नर की ओर देखते हुए बड़ी प्रसन्नता से बोले—"तुम मेरे मन के अनुरूप हुए हो इसलिये तुम्हारा नाम मनु होगा। मुझ स्वायंभू के पुत्र होने से तुम्हारा स्वायंभुव नाम भी प्रसिद्ध होगा। यह जो तुम्हारी बगल में अपने शत-शत रूपों से सभी के मन को आकर्षित करने वाली सुन्दरी खड़ी है, इसका नाम शतरूपा होगा। तुम नर होगे, यह नारी होगी। तुम पुरुष यह स्त्री, तुम पति यह पत्नी। मेरे आधे अंग से यह बनी है इसलिये तुम्हारी अर्धाङ्गिनी होगी। अब तुम दोनों, यह जो तुम्हारे बीच में धर्म खड़ा है, इसे साक्षी देकर आपस में गठबन्धन कर लो। एक दूसरे को कभी छोड़ना मत। तुम्हारे बीच में धर्म के पड़ने से यह धर्म-पत्नी कहलावेगी, तुम इसके पति होगे। तुम्हारे वंशज मनुष्य कहलावेंगे, तुम आदि राजा माने जाओगे।"

स्वायंभुव मनु तो चाह ही रहे थे, पिताजी ने उनके मन की ही बात कह दी। दोनों ने विवाह कर लिया। धर्म उनके मध्यस्थ हुए। अब किसी को बोलने का स्थान ही नहीं रहा।

सभी निराश हो गये, सब की आशा पर पानी पड़ गया। वे निराश होकर बोले—"तब, महाराज! हम लोग जायँ?"

ब्रह्माजी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—"अरे, तुम लोग ऐसे निराश से क्यों हो रहे हो, अब तो रास्ता मिल गया। अब जो होंगी, उनसे तुम्हारी साँठ-गाँठ लगाऊँगा। तुम्हारा भी मुझे ध्यान है, तुम्हारे लिये भी प्रबन्ध करूँगा।" और सब तो सुनकर चुप हो गये। वे तो सब मन ही मन चाह ही रहे थे, किन्तु नारद जी को यह लीला अच्छी नहीं लगी, वे बोले—"महाराज! मेरे ऊपर तो दया करना। मेरे लिये तो प्रबन्ध करना मत।"

आश्चर्य के साथ ब्रह्माजी ने कहा—"क्यों, क्यों, बात क्या है ? अरे तुम अनोखी बात क्यों कर रहे हो। सृष्टि में योग देना तो बड़े पुण्य का काम है।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! यह पुण्य का काम आपके ही लिये रहे। मैं तो आपकी इस कारे मूढ़ की काया को दूर से ही डंडौत करता हूँ। मुझे यह गठबन्धन अच्छा नहीं लगता।"

ब्रह्माजी ने अपना बड़प्पन जताते हुए वृद्धों की भाँति समझाते हुए कहा—"देखो, तुम यह लड़कपन मत करो बिना स्त्री के मनुष्य आधा होता है। द्वैत से ही तो सृष्टि है। भीतर घर की स्वामिनी गृहिणी होती है, बाहर का *स्वामी पुरुष।* दोनों मिलकर चैन की वंशी बजाते हैं। पुरुष कमाकर लावेगा, घरवाली उसे सावधानी से व्यय करेगी। चाहे जब आओ, घर में रोटी तैयार। न आग फूँकने की आवश्यकता न चूल्हा जलाने की चिन्ता। बनी बनायी गरमागरम खाओ। अतिथि सत्कार का प्रबन्ध, झाड़-बुहार, लेन-देन सब झंझटों से मुक्त। आनन्द से संसार का काम भी करो और दोनों मिलकर राम-राम भी रटो जब छोटे-छोटे बच्चे घर में घुटुअन चलते हुए किलकेंगे, तो स्वर्ग और मुक्ति का सुख उनकी तोतली वाणी में ही मिल जायगा।"

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! मेरे ऊपर दया करो। मैं तो आधा ही अच्छा हूँ। आधा मैं और एक मेरे श्यामसुन्दर, इस प्रकार मैं तो डेढ़ हो जाऊँगा। ये लोग आधे-आधे मिलकर एक ही होंगे।"

ब्रह्माजी ने कुछ घुड़कते हुए कहा—"अरे, तुम यह क्या गड़बड़ घुटाला कर रहे हो ? देखो, मुझे तो कुछ नहीं है, तुम्हारी इच्छा, किन्तु याद रखो, बिना घर-बार के हुए द्वार-द्वार भीख

माँगते फिरोगे। आज यहाँ, कल वहाँ, न तुम्हारा नाम चलेगा, ऐसे ही फक्कड़ बने घूमोगे।"

नारदजी बोले—"हाँ महाराज! मुझे तो फक्कड़पन ही प्रिय है। अपना नाम क्या चलाना, मुझे तो भगवान् का नाम प्रिय है,

उसे ही सदा रटता रहूँगा, रही गोत्र की वात, सो, मेरा तो 'अच्युत गोत्र' ही अच्छा है। मुझे भीख माँगकर खाना, द्वार-द्वार घूमना ही स्वीकार है, किन्तु जान-बूझकर पैरों में वेड़ी पहिनना मुझे स्वीकार नहीं।"

ब्रह्माजी ने देखा—"इन पर रङ्ग नहीं चढ़ा, तब हताश होकर वोले—"अच्छा, भैया! तुझे जो दीखे सो कर, किन्तु यह उल्टी पट्टी औरों को मत पढ़ाना।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी वोले—"पिताजी! यदि मैं पट्टी पढ़ाना भी चाहूँ तो कौन पढ़ेगा। आपने यह कबूतरी ही ऐसी पैदा कर दी है, कि सभी पंख फटफटाने लगे हैं। आप देख ही रहे हैं। ये धर्मदेव बीच में न होते, तो यहीं देवासुर संग्राम छिड़ जाता। इसलिये महाराज, मेरी पट्टी को तो कोई विरला ही पढ़ेगा। लाखों करोड़ों में कोई एक ऐसा होगा।"

यह सुनकर ब्रह्माजी नारदजी को हाथ के संकेत से एकान्त में ले गये और बड़े ही स्नेह से वोले—"भैया, नारद! तू कहता तो ठीक है, इस प्रवृत्ति मार्ग में फँसना अपने को भगवान् से दूर हटाना ही है, किन्तु करें क्या? जीवों को अनादि काल की कर्म वासनायें वलपूर्वक इस मार्ग में प्रवृत्त कराती हैं फिर भी जो धर्म का आश्रय न छोड़ेंगे वे प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी नीचे न गिरेंगे, क्रमशः वे भी परम पद की प्राप्ति कर सकेंगे। यदि निभ जाय तो, तुम्हारा निवृत्त मार्ग सर्वश्रेष्ठ है ही, किन्तु निभता नहीं। जीव पूर्व वासनाओं के अधीन होकर फिर विषयों में फँस जाते हैं। इसलिये संसार में दो मार्ग रहेंगे। एक तो धर्मपूर्वक प्रवृत्ति मार्ग जिसके उपदेशक मनु आदि होंगे और दूसरा निवृत्ति मार्ग जिसके उपदेशक तुम्हारे वड़े भाई सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार तथा तुम होगे। तुम्हारा मार्ग श्रेष्ठ होने पर भी छुरे की धार की तरह कठिन रहेगा। निवृत्ति मार्ग कनिष्ठ

होने पर भी यदि धर्म के साथ निभाया जाय, तो सरल,सुगम, विना बाधा के राजपथ के सदृश होगा। तुम्हारी लड़ाई मैदान की है। तुम्हें हर समय शत्रुओं से सावधान रहना पड़ेगा। इन लोगों की लड़ाई किले की है। किले में रहो आनन्द से सुखोपभोग करो, शत्रु आवे, तो उस पर भीतर से ही प्रहार करो। तुम्हारा कल्याण हो! जाओ तुम तो जीवनमुक्त ही हो, भगवान् के गुणानुवादों को गाते हुए संसारी संतापों से तप्त प्राणियों को सदा सुख शान्ति का पाठ पढ़ाते हुए उनके हृदयों को शीतल बनाते रहो। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारे और भाई तो धर्म के आश्रय से प्रवृत्ति मार्ग का आदर्श उपस्थित करेंगे।"

इतना कहकर नारदजी को ब्रह्माजी ने विदा किया। तब सब ऋषियों से कहा—"तुम लोग तपस्या करो। अब जो लड़कियाँ होंगी मैं उनके साथ सबका विवाह कर दूँगा।" ब्रह्माजी की ऐसी आज्ञा पाकर सभी उनके चरणों में प्रणाम करके अपने-अपने स्थानों को चले गये। स्वायंभुव मनु ने शतरूपा के सकाश से प्रियव्रत और उत्तानपाद दो सुत और आकूति, प्रसूति, और देवहूति ये तीन कन्यायें उत्पन्न कीं इन तीनों कन्याओं का विवाह ब्रह्माजी ने क्रमशः रुचि प्रजापति, दक्ष प्रजापति और कर्दम प्रजापति के साथ कर दिया। दक्ष प्रजापति ने ६० और कर्दम प्रजापति ने ९ कन्यायें उत्पन्न की। उनका विवाह और ऋषियों के साथ हुआ। फिर क्या था, अब तो बढ़ने लगी सृष्टि। हजारों सन्तानें उत्पन्न होने लगीं ब्रह्माजी का बाण लक्ष्य पर लग गया। थोड़े ही दिनों में यह सम्पूर्ण जगत् जीवों से ठसाठस भर गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यही सृष्टि का संक्षिप्त वृत्तान्त है। विदुर जी के पूछने पर यही मैत्रेय मुनि ने उन्हें बताया था। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं?"

इस पर महाराज परीक्षित बोले—"प्रभो! यह तो बड़ी

अद्‌भुत कथा आपने सुनाई। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि इसके अनन्तर विदुर जी ने मैत्रेय मुनि से कौन-कौन से प्रश्न किये ? विदुर जी महाभागवत ठहरे, वैसे ही मुनियों के अग्रणी महामुनि मैत्रेय जी ध्याननिष्ठ योगी और भगवत् भक्त वक्ता थे। इन दोनों में जो प्रश्नोत्तर हुआ होगा, वह तो परम कल्याणप्रद ही होगा। मुझे इन दोनों के प्रश्नोत्तरों को विस्तार के साथ सुनाइये।"

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् के पूछने पर मेरे गुरुदेव ने जिस प्रकार आगे का विदुर-मैत्रेय सम्वाद सुनाया, उसका वर्णन अब मैं आपसे विस्तार के साथ कहूँगा। इसमें वाराह भगवान् के अवतार की पुण्यमयी कथा भी होगी। अब आप परम रसीली कथा को एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

विधि सामग्री सुखद सृष्टि की लखि हरषाये।
उदासीन जे पूर्व निरखि ते हू ललचाये॥
बोले ब्रह्मा—नरस ! ब्याह हम सबको करिहैं।
कुंजी अब तो मिली सृष्टि करि जगकूँ भरिहैं॥
नारद बोले—पिताजी, श्री हरि के गुन गाउँगो।
कारे सिर की के नहीं, हौं चक्कर महँ आउँगो॥

पृथ्वी-उद्धार के लिये मनु की प्रार्थना

[१२८]

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन ।
स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥
यदोकः सर्वसत्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १३ अ० १४, १५ श्लोक)

छप्पय

सुन्दर दुलहिनि पाइ कहें मनु पितु सन बानी ।
करहुँ कहा-अब काज रचहुँ कहँ निज रजधानी ॥
विधि हँसि बोले-अनघ ! सृष्टि को चक्र चलाओ ।
पुत्र, पौत्र, परपौत्र रचो, बहु वंश बढ़ाओ ॥
पय महँ पृथ्वी परी प्रभु, ताकूँ बाहर करहिँ अब ।
बसहिँ जीव सुख लहहिँ सब, होहि मही उद्धार जब ॥

सभी पुरुष पूर्व संस्कारों और स्वभाव के अनुसार कार्य

---

* जब ब्रह्माजी ने स्वायम्भुव मनु को सृष्टि करने की आज्ञा दी तब मनुजी कहने लगे—"हे अघहारी प्रभो ! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य करने को तत्पर हूँ, किन्तु आप मेरे तथा मेरी प्रजा के रहने योग्य स्थान तो बता दीजिये पृथ्वी जो सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली है वह इस समय जल में डूब गई है अतः हे देवाधि देव ! आप इस पृथ्वी के उद्धार का कोई उपाय सोचिये।"

करते हैं। जो हमारे मन की बात होती है और उसे हमारे गुरुजन किसी भी प्रकार कह देते हैं, तो हमें एक आड़ मिल जाती है। हम बार-बार अपने को निर्लेप बताते हुए कहते हैं—"ऐसा करने की हमारी इच्छा तो नहीं थी, किन्तु करें क्या ? बड़े लोगों की आज्ञा माननी ही पड़ती है।" यदि बड़े लोग हमारी इच्छा के विरुद्ध आज्ञा देते हैं, तो उसे प्रायः सभी लोग टालमटोल कर जाते है, करते भी है तो बेगार टालने को। यथार्थ बात यह है, कि गुरुजनों को बीच मे डालकर हम अपनी इच्छा का समर्थन कराते हैं। प्रायः लड़की-लड़के विवाह की बात छिड़ते ही बिदुकने से लगते हैं—'हम विवाह नहीं करेंगे।' जब विवाह हो जाता है, और कोई हँसी मे,पूछता है—"क्यों जो ! तुम तो विवाह को मना करते थे।" तब वह विवशता के स्वर मे कहता है—"अजी, क्या करें पिताजी ने बहुत आग्रह किया माताजी रोने लगीं। मैंने कहा अच्छी बात है। अब आप ही सोचिये बड़ों की आज्ञा कैसे टाली जा सकती है।" इस आज्ञा के पालन करने को तो वे बड़े मातृ-पितृ भक्त बन जाते हैं किन्तु माता-पिता सन्ध्या, पूजन को कहें, तो प्रायः नाक सिकोड़ने लगते हैं। उस समय उनकी मातृ-पितृ भक्ति घास चरने जङ्गल में चली जाती हैं। इसीलिये आचार्य अपने सभी शिष्यों को एक-सा साधन नहीं बताते। पहिले वे शिष्य की परीक्षा करते हैं। इसकी प्रवृति सतगुण, निर्गुण, योग ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा अन्य किसी साधन की ओर स्वाभाविक है। प्रवृत्ति, या निवृत्ति किस की ओर इसका झुकाव है ? ऐसा देख कर ही वे स्वभावानुसार उपदेश करते हैं। श्रीब्रह्माजी के जो मानस पुत्र हुए, ये पूर्व कल्पों में भी सृष्टि रचने वाले प्रजापति ही थे। पूर्व कल्पों में भी इन्होंने प्रवृत्ति धर्म को स्वीकर करके धर्मपूर्वक प्रजा का सृजन किया था। अतः भगवत् प्रेरणा से ही ब्रह्माजी के आधे शरीर से स्त्री, आधे से पुरुष उत्पन्न

हुआ। अब तक जो मानसिक पुत्र उत्पन्न हुये थे, वे ऋषि थे। उनकी सन्तान मनुष्य ही हो यह आवश्यक नहीं। वे वृक्षों और सर्पों को भी पैदा कर सकते हैं। वन्दर, भालु, व्याघ्र भी उनके पुत्र हो सकते हैं। किन्तु ब्रह्माजी के अंग से जो दो भाग हुए उनमें से एक स्त्री, एक पुरुष। स्त्री का नाम शतरूपा हुआ, जो समस्त स्त्रियों में आदि स्त्री हुई। पुरुष का नाम मनु हुआ, जो समस्त पुरुषों के आदि पुरुष हैं। अब तक तो मानसी सृष्टि होती थी। इनसे ही मैथुनी सृष्टि आरम्भ हुई। इन्होंने ही पृथ्वी पर अपनी राजधानी बनाकर चारों वर्णों को तथा अन्य लोगों को उत्पन्न किया। अन्य ऋषियों ने भी मनुष्यों की सृष्टि की, किन्तु उन्होंने और भी जाति के जन्तु पैदा किये। इस कथा को सुनकर विदुरजी, मैत्रेयजी से पूछने लगे—"ब्रह्मन! शतरूपा पत्नी को पाकर स्वायंभुव मनु ने क्या किया? क्या उन्होंने उनको धर्मपत्नी रूप में स्वीकार कर लिया? उन्होंने सनकादि मुनियों के मार्ग का अनुसरण नहीं किया?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि अपनी हँसी रोकते हुए बोले—"अजी विदुरजी! तुम भी कैसी बात कर रहे हो। शतरूपाजी के दर्शन ही से मनुजी अपने आपे को भूल गये। सर्वज्ञ ब्रह्माजी उनके भाव को ताड़ गये और अपनी दाढ़ी फटकारते हुए गम्भीर वाणी से बोले—"बेटा मनु, तुम मेरी एक बात मानो। देखो भैया! सृष्टि का कार्य तो करना ही है, इसे बिना किये कैसे काम चलेगा? इसलिये तुम मेरे काम में सहायता दो।"

हाथ जोड़कर बड़े ही विनीत भाव से स्वायंभुव मनु बोले—"भगवन्! आप हमसे ऐसी बातें क्यों कह रहे हैं। आप तो हमारे गुरु हैं, हमारे ही नहीं अखिल विश्व के आप ही एक मात्र अन्नदाता, जन्मदाता तथा स्वामी हैं। हमें तो आप आज्ञा प्रदान करें कि भाई! तुम्हें यह काम करना होगा। हमसे सम्मति लेने

की आवश्यकता नहीं। आप जो भी हमें आज्ञा करेंगे, यदि हम करने में समर्थ होंगे, तो उसे बिना विचार के निष्कपट भाव से करेंगें। हम जानते हैं आप हमें ऐसी ही आज्ञा देंगे, जो इस लोक तथा परलोक के लिये भी सुखदायिनी ही होगी। उसके पालन करने से हमें इस लोक में कीर्ति और परलोक में पुण्य की प्राप्ति–शुभ गति मिलेगी।"

मनुजी के ऐसे विनीत वचन सुनकर ब्रह्माजी प्रसन्न होते हुए और वात्सल्य प्रेम प्रदर्शित करते हुए बोले—"वत्स! तुम्हारा कल्याण हो! तुमने बड़ी अच्छी बात कही। तुम्हारे शील से मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम्हारी पितृ-भक्ति से मुझे परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। तुमने निष्कपट भाव से मुझसे कहा कि 'आज्ञा दीजिये।' अच्छा, यथा मेरी यही आज्ञा है, कि तुम इस शतरूपा को अपनी धर्मपत्नी बना लो और इसमें अपने समान ही धर्मपूर्वक सुन्दर सन्तानें उत्पन्न करो। इस पृथ्वी के तुम आदि राजा बनो, प्रजा पालन करो, न्यायपूर्वक शासन करो और यज्ञ-यागादि करके भगवान् का श्रद्धाभक्ति पूर्वक पूजन करो। देखो बेटा, सत्पुत्र का यही कर्तव्य है, कि वह पिता को आत्म-समर्पण कर दे। वह जो भी आज्ञा दे, उसका बिना विचार के पालन करें। तुम्हारे पूर्वज सनकादि बड़े भ्राताओं ने मेरी बात नहीं मानी। सो देखो वे नंगे घूम रहे हैं? तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं है।"

यह सुनकर सकुचाते हुए मनुजी ब्रह्माजी से बोले—"हाँ, प्रभो! मैं आपकी इस आज्ञा का तो पालन करूँगा ही, और भी जो मेरे योग्य सेवा हो, उसके लिये भी आदेश कीजिये। मैं तो आपको सन्तुष्ट करना चाहता हूँ।"

इस पर ब्रह्माजी परम सन्तुष्ट होकर कहने लगे—"देखो, भैया! मेरी सबसे श्रेष्ठ सेवा यही है कि तुम सावधान होकर सृष्टि की वृद्धि करो और समस्त प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करो।

देखो, यह सब जगत् भगवान् का ही तो रूप है। जनता की सेवा करने से जनार्दन परम सन्तुष्ट होते हैं। अकेले रहकर पेट भर लिया—इसमें क्या पुरुषार्थ ? सब की सेवा करते हुए सबको सन्तुष्ट करना—यही सर्वेश्वर की सर्वोत्तम उपासना है। इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। जिसने जगत् की सेवा करके विष्णु भगवान् को प्रसन्न नहीं किया, उसका सभी श्रम व्यर्थ है। राख में हवन करने के समान उसका किया कराया सब निष्फल है।"

यह सुनकर मनुजी बोले—"हाँ महाराज ! मैं आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करूँगा। अपने समान सन्तानों को भी उत्पन्न करूँगा और प्रजा का भी पालन करूँगा, किन्तु मुझे तथा मेरी प्रजा को रहने के लिये स्थान तो चाहिये। वहाँ आपके सत्य लोक में स्थूल सृष्टि हो नहीं सकती। स्वर्ग लोक और भुवलोक तक भी सूक्ष्म सृष्टि से ही जीव रहते हैं। स्थूल सृष्टि रहने योग्य और कर्म करने योग्य तो एक मात्र पृथ्वी ही है।"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, हाँ, ठीक है। पृथ्वी में ही जाकर तुम अपनी राजधानी बनाओ।"

यह सुनकर स्वायंभुव मनु ने शीघ्रता के साथ कहा—"महाराज ! पृथ्वी तो पाताल में चली गयी। वह तो जल में मग्न हो गई। उसका उद्धार हो, रसातल से किसी प्रकार जल के ऊपर आवे तब कहीं काम चले।"

इतना सुनते ही ब्रह्माजी ने ध्यान किया और ध्यान करके बोले—"अरे, हाँ, जिस समय मैं सातों लोकों की रचना कर रहा था और अनेक प्राणियों को उत्पन्न कर रहा था, उसी समय पृथ्वी तो रसातल में चली गयी। इसे किसी प्रकार निकालना चाहिये।"

इस पर मनुजी ने कहा—"महाराज ! बिना पृथ्वी के तो काम चलने का नहीं। रुद्र भगवान् के बनाये हुए भूत, पिशाच,

डाकिनी साकिनी वैताल आदि तो भुवर्लोक में रह सकते हैं। देवता स्वर्गलोक में वास करेंगे। महर्षिगण महर्लोक में अपना निवास स्थान बना लेंगे। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी जो भगवान् के शरणापन्न अप्रजावान् जन हैं, वे जनलोक में रह सकते हैं, तपस्वी तपलोक में रहकर ध्यानमग्न रह सकते हैं। आपके शरणापन्न सत्य संकल्प लोग, ज्ञानी तथा परम पुण्यात्मा लोग अपने सत्यलोक में रहेंगे किन्तु मनुष्य का आश्रय तो एकमात्र पृथ्वी ही है। यह पृथ्वी रसातल को चली गई तो दूसरी पृथ्वी की रचना कीजिये।"

ब्रह्माजी बोले—"अरे, भैया! मैं स्वयं किसी की रचना करने में समर्थ थोड़े ही हूँ। वे सर्वान्तर्यामी हरि मेरे हृदय में जो प्रेरणा करते हैं, वही कार्य मैं करता हूँ। जब सृष्टि बढ़ाने में असमर्थ हुआ, तो उन्हीं की कृपा से मेरे दो रूप हो गये जिनसे तुम्हारी पत्नी शतरूपा और तुम उत्पन्न हुए अब वे ही प्रभु पृथ्वी के उद्धार का भी उपाय करेंगे। वे ही मेरे अन्तः-करण में प्रकट होकर पृथ्वी को रसातल से ऊपर लाने में मेरी सहायता करेंगे।"

मनुजी ने कहा—"आप जैसा उचित समझें मैं तो हर प्रकार से आपकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर हूँ। पृथ्वी का उद्धार होते ही उस पर मैं अपनी राजधानी बना लूँगा। वहाँ रहकर मैं सृष्टि की वृद्धि और प्रजा पालन रूपी कार्य करूँगा।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी रसातल को चली गई, यह बात हमारी समझ में नहीं आई, पाताल तो पृथ्वी के सात विवरों में से एक विवर ही है। वहाँ पृथ्वी कैसे चली गई?"

इस पर सूतजी बोले—"महाभाग! यहाँ पृथ्वी कहने से

पृथ्वी की अधिष्ठातृ देवी से तात्पर्य है। सभी नाम रूपवाली वस्तुओं के एक-एक अधिष्ठातृदेव रहते हैं। जिसके अधिष्ठातृदेव नहीं रहते, वह वस्तु श्रीशून्य हो जाती है। जैसे दस इन्द्रियों के इन्द्र, विष्णु आदि अधिष्ठातृदेव हैं। मृत्यु के समय वे शरीर की इन्द्रियों के गोलकों को छोड़कर सूक्ष्म देह से अन्यत्र चले जाते हैं, तो इन्द्रियों के गोलक ज्यों-के त्यों बने रहने पर भी वे श्रीशून्य तथा चेष्टा रहित हो जाते हैं। इसी प्रकार इस पृथ्वी की जो अधिष्ठातृदेवी थीं, वे रसातल में चली गईं। इसलिये इस सम्पूर्ण देखने वाली स्थूल पृथ्वी पर कहीं पानी, कहीं ज्वालामुखी, कहीं मैल आदि भर गया। यह मनुष्यों के रहने के सर्वथा अयोग्य हो गई थी। भगवान् के अनुग्रह से जैसे उसका उद्धार हुआ उसका वर्णन मैं आगे करता हूँ। आप उसे सावधान होकर सुनें।"

इतना कहकर सूतजी चुप हो गये। शौनकजी सन्तुष्ट होकर आगे की कथा सुनने को उत्सुकता प्रकट करने लगे।

छप्पय

सुनिकें मनुके बचन ध्यान चतुरानन कीन्हों।
पृथिवी तो पाताल गई विधि ने सब चीन्हों॥
अति ही चिन्तित भये करूँ का अब मैं भाई।
सृष्टि चक्र तब चले करें जब श्याम सहाई॥
हम तो उनके यन्त्र है, वे ही कारण काम हैं।
अपने तैं होवे न कछु, करनहार घनश्याम हैं॥

श्रीवाराह भगवान् की कथा

(१२६)

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥❀

(श्रीभा० ३ स्क० १३ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

ध्यान करत विधि युगल नयन सरसिज सम विकसे ।
हरि शिशु सूकर वेष धर्यो नासा तें निकसे ॥
लघु अंगुष्ठ समान यज्ञ तनु वेद बखानें ।
केवल किरपा प्राप्त मनस्वी जिनकूँ मानें ॥
अति अद्भुत तनु निरखि कें, विधि विस्मितवत् ह्वै गयो ।
तब तक सूकर रूप हरि, हस्ती सम नभ महँ भयो ॥

दुःख का कारण है कर्तृत्वाभिमान। जब मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है, तभी उसे संसारी सुख दुःख होता है। नित्य ही लाखों रुपये आते हैं जाते हैं, नित्य ही सैकड़ों, वापी, कूप, तड़ाग, आराम, वाटिका, गृह, उद्यान, सभा मण्डप बनते हैं, बिगड़ते हैं। न हमें उनके बनने से हर्ष, न बिगड़ने से शोक।

❀ मैत्रेयजी विदुरजी से कहते हैं—"हे निष्पाप! जब भगवान् ब्रह्मा इस बात का विचार कर रहे थे, तो उसी समय उनकी नासिका के छिद्र से सहसा एक वाराह का बच्चा निकल पड़ा, जो आकार में अँगूठे के ही समान था।"

किन्तु जिसमें हमारा निजी अभिमान है, जिसे हम अपनी वस्तु समझते हैं, जिसके कर्ता, रचयिता, रक्षक, स्वामी अपने को मानते हैं, उसके बनने पर हर्ष बिगड़ने पर दुःख शोक होता है। वास्तव में कौन गृह, मकान बनाता है। यही भगवान् की बनाई पृथ्वी है, भगवान् का बनाया जल है, भगवान् की बनाई अग्नि है, भगवान् के बनाये मनुष्य हैं, भगवान् की बनाई सोना चांदी ताँबा आदि धातु हैं। जब हम किसी भगवान के बनाये, दैववश अपने पास आये धातुओं के सिक्के को भगवज्जनों को देते हैं, तो जल में मिट्टी घोलकर उनकी ईंटें बनाकर अग्नि में पक्का करके पृथ्वी में आकाश की ओर एक मकान बना देते हैं। उनमें हमारी कौन-सी वस्तु है ? न पृथ्वी हमारी, न जल हमारा, न अग्नि, न आकाश, न पाताल। केवल "अहङ्कार" हमारा है। उस अहङ्कार को भी भगवान् को जो समर्पित कर देता है, उसके सभी कार्यों को प्रभु स्वतः ही पूरा कर देते हैं, उसका काम ही क्या रह जाता है ? सब काम ईश्वर का ही है, उन्हें जो प्रिय होवे करें। अभिमान करोगे, तो दुःख भोगोगे, फँसोगे, हाथ कुछ भी न लगेगा। वासना बढ़ेगी, ८४ के चक्कर में पड़ोगे। यही सब सोचकर मैत्रेय मुनि विदुर जी से कहते हैं—"विदुर! जब स्वायंभुव मनु ने लोक पितामह ब्रह्मा को यह बात बताई, कि पृथ्वी तो पाताल में चली गई, तो उन्होंने ध्यान लगाकर देखा और फिर बोले—"हाँ, यथार्थ में पृथ्वी तो पाताल में चली गयी, जलमग्न हो गई। इसका उद्धार कैसे करें। नीचे रस्सी बाँधकर ऊपर खींचें, तो हम जानें खींच सकें या नहीं खींचने में टूट-फूट जाय निर्जीव हो जाय। जल में हम सब चलें, तो फिर उसे लादकर किस पर लावें। नीचे असुर भी हैं, वे लड़ पड़े तो लाना भी असम्भव है। इसलिये पृथ्वी का अपने पुरुषार्थ से उद्धार

करना तो हमारी शक्ति के बाहर की बात है। जिन्होंने मुझे सृष्टि रचना की शक्ति प्रदान की है वे ही कृपा करें, वे ही उपाय बतावें, तब तो पृथ्वी ऊपर आ सकती है। भगवान् की शक्ति सहायता और बुद्धि योग प्रदान किये बिना कार्य होना असम्भव है। इसलिये मैं तो उन्हीं भगवान् की शरण में हूँ, जो शरणागत वत्सल, प्रणत प्रतिपालक और प्रपन्न पारिजात हैं।

इस प्रकार भगवान् का आश्रय ग्रहण करते ही ब्रह्माजी की नासिका से अत्यन्त मनोहर, अत्यन्त ही दर्शनीय, एक शूकर के सुन्दर शिशु का प्रादुर्भाव हुआ। शूकर रूप में वे साक्षात् श्री हरि ही प्रकट हुए थे। वे आकाश में अधर खड़े थे। ब्रह्माजी को इस बात की कल्पना भी नहीं थी, कि चराचर के स्वामी ऐसे लोक निन्दित जीव का रूप धारण करेंगे। वे बड़े विस्मय की दृष्टि से उस वाराह बालक को देखने लगे। समीप में स्थित अपने मानस पुत्रों से कहने लगे—"देखो, यह अंगुष्ठ मात्र सत्त्व मेरी नासिका से निकलकर नभ में कैसा प्रकाशित हो रहा है? कैसा कान्तियुक्त है इनका शरीर? ये तो कोई विलक्षण ही जीव हैं।"

ब्रह्माजी इतना कह ही रहे थे, कि वे वाराह भगवान् तो बढ़कर वारणेन्द्र की तरह बहुत बड़े डील डौल के हो गये और क्षण भर में ही उससे भी सौ गुने बढ़कर पर्वताकार बन गये। अब तो ब्रह्माजी को चेत हुआ। अरे, ये उत्पन्न करने वाले सर्वान्तर्यामी हरि तो नहीं हैं पुराण पुरुष ने ही तो ऐसा रूप धारण नहीं कर लिया है। साक्षात् यज्ञ रूप भगवान् ही साकार विग्रह धारण करके अवतरित तो नहीं हुए हैं। इस विचार के आते ही ब्रह्माजी के रोम-रोम खिल गये, हृदय आनन्द से भर गया, नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे, स्नेह के कारण कंठ रुद्ध हो गया। भगवान् सबके सामने देखते-देखते ही बहुत बड़े नीले

पर्वत के समान होकर, बड़े जोरों से दशों दिशाओं को गुञ्जायमान करते हुए महान गर्जना करने लगे। उनकी भीमरव वाली
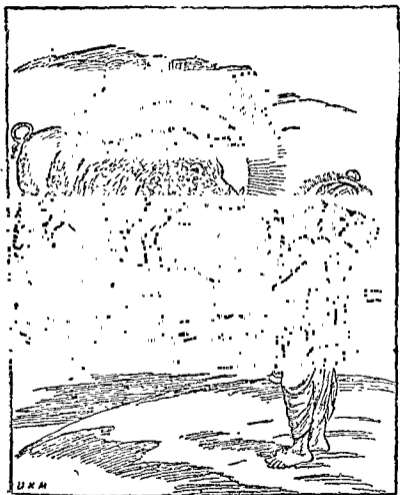
गर्जना से दशों दिशायें भर गईं आकाश में वही महान् शब्द छा गया। इससे सनकादि तथा मरीचादि ब्रह्माजी के जितने मानस

ऋषिगण वहाँ उपस्थित थे, सभी परम आनंदित हुए। उनके हृदयों में प्रेम का प्रवाह उमड़ने लगा। सबको निश्चय हो गया, ये साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हैं।

तब वे सभी महाजन, तप और सत्यलोक के निवासी ऋषि मुनि भगवान् की स्तुति करने लगे। अपनी स्तुति सुनकर भगवान् को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वे उत्साह में भरकर बार बार गर्जना करने लगे और पूँछ को फटकारने लगे। इस प्रकार ऋषियों को आनन्दित करते हुए वह वाराह वपुधारी मुरारी सबके देखते-देखते प्रलय के बढ़े हुए जल में पूँछ उठाकर घुस गये। उस समय उनकी शोभा दर्शनीय थी। सातों लोकों की रचना हो चुकी थी, भुवर्लोक तक जीव भी बस गये थे, किन्तु पृथ्वी पर जीव नहीं बसे थे। ब्रह्माजी की असावधानी से सृष्टि रचते समय पृथ्वी पाताल में चली गई थी, इससे वह रहने योग्य नहीं थी। सर्वत्र जल-ही-जल भरा हुआ था। ऊपर नीला-नीला आकाश नीचे नीला-नीला नीर, बीच में जल से भरे नीले-नीले बादल हाथियों की तरह इधर-उधर घूम रहे थे। सत्यलोक से शूकर भगवान् कूदे। कूदते समय अपने खुरों से वे आकाश के मेघों को उसी तरह चीरकर नीचे जा रहे थे, जिस प्रकार कुहरे को चीरकर सूर्य भगवान् आगे बढ़ते हैं। उनके दोनों नेत्र सूर्य चन्द्रमा के समान चमक रहे थे, मानों पूर्णिमा के दिन सूर्य चन्द्र दोनों मिल कर आकाश से उतर रहें हों। उनके कंठ में पड़ी वनमाला ऐसी ही शोभा दे रही थी, मानों आकाश से टूटकर इन्द्र धनुप गिर रहा हो। पीताम्बर उसी प्रकार फहरा रहा था मानों नभ से चमकती हुई विद्युत पृथ्वी की ओर गिर रही हो। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म के चकाचौंध से सभी ऋषि मुनियों की आँखें बन्द हो गई थीं। उनके निकले हुए शंख के समान, रजत दंड के समान, मोती और श्वेत पुष्पों के समान शुभ्र दाँत उसी प्रकार शोभा पा

रहे थे, मानों मूर्तिमती कीर्ति ही उनके आनन में विराजमान होकर फैलने के लिये पृथ्वी पर आ रही हो। सम्पूर्ण शरीर पर कठोर और कड़ी त्वचा थी, उनके ऊपर उठे हुए रोयें उसी प्रकार उग रहे थे मानों नीलांजन पर्वत के शिखर पर मरकत मणि के सदृश दूर्वा उग रही हो। वे बार-बार अपनी गरदन के बालों को फटकारते जाते थे। फुरहुरी लेने के कारण सेह के काटों के सदृश रोयें खड़े हुए थे। वे अपनी तुण्ड से समुद्र सलिल को फाड़ते चीरते पाताल में पहुँच गये। जिस समय वे समुद्र के वक्षःस्थल को विदीर्ण करके अपने पर्वताकार शरीर से उसमें घुसे, तो समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरियाँ आकाश तक उछलने लगी, मानों वे अपनी रक्षा के लिये सभी लोकों में भागकर अपने रक्षक को खोज रही हों। उत्ताल तरङ्गों से सम्पूर्ण समुद्र में बड़े वेग का शब्द हो रहा था, मानों अपना कोई रक्षक न पाकर अंत में हार कर समुद्र कह रहा हो—"हे प्रभो! तुम्हीं एकमात्र सबके रक्षक हो। तुम्हीं सबके दुखों को दूर करने में समर्थन हो।" भगवान् ज्यों-ज्यों नीचे जाते त्यों-त्यों समुद्र का जल फटकर हटकर ऊपर उठता जाता था। पाताल में पहुँचकर और चारों ओर घूमकर भगवान् सूँघकर पृथ्वी को खोज रहे थे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ'। भगवान तो बहुत गहरे पानी में पैठे थे और नेत्रों से ही नहीं, नासिका से भी खोज रहे थे। खोजते-खोजते पृथ्वी मिल गई। वह तो उनकी पूर्व परिचिता सहधर्मिणी ही थी। वही समस्त जीवों का आश्रय स्थान थी। सोते समय जिसे भगवान् विश्व के साथ उदर में छिपाकर सो गये थे। आज उसे पाताल में पाकर प्रसन्न हुए। चार आँखें हुई, आप मुस्कुरा उठे और बोले—"क्यों देवि! बड़े नीचे बिल में आकर छिप गई?" प्रेम के रोष से भू देवी बोलीं—"तुम ठहरे पुराण पुरुष, हर समय सर्प के ऊपर समुद्र में सोते रहते

हो। मेरी तो तुम्हें चिन्ता ही नहीं रहती। तुम्हें तो मेरी सौत लक्ष्मी प्यारी हैं। उसके पीछे मुझे भूल ही जाते हो, तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। ये मेरे ही पुत्र असुर यहाँ ले आये।"

भगवान् हँसे और बोले—"देवि! कोई बात नहीं। सब तुम्हारे ही पुत्र हैं, कोई कुपूत है कोई सुपूत। माता पर तो सभी का अधिकार है।"

कुपित होकर धरारानी बोलीं—"अब तुम ऐसी छल बल की बातें मुझसे मत करो। जब तक स्त्री का पति विद्यमान है, तब तक पुत्रों का उस पर कोई अधिकार नहीं। पत्नी के लिये एक मात्र आश्रय हैं पतिदेव के चरण। मुझे तो आप अपने चरणों की शरण में रखो। वज्र; अंकुश, ध्वजा आदि चिह्न से चिह्नित अपने चरणों को मेरे हृदय पर रखकर मेरे दुःखों को दूर करो, यहाँ से मुझे ले चलो। और 'यह तुमने रूप कैसा बना लिया है, चार पैरों वाला। पूँछ अलग लगा ली है। गोल-गोल तुण्ड बना लिया है। मेरे बैठने का स्थान तो है आपके चरणों के नीचे। ये चरण आपने ऐसे बना लिये हैं कि इन्हें पकड़ूँ तो नीचे ही गिर पड़ूँ। इसलिये मैं तो चाँदी के समान चमकती हुई आपकी इस दाढ़ के ही ऊपर बैठूँगी, कि कहीं गिरने गिराने का भय हुआ तो कसकर आपके गले को पकड़ लूँगी। कंठ से लिपट जाऊँगी। इतना कहकर पृथ्वी उछलकर भगवान् की दाढ़ पर बैठ गई। ज्यों ही वे पृथ्वी को लेकर चले, त्यों ही भूत के समान हिरण्याक्ष दैत्य ने उन्हें रोका। उसे मारकर और उसके रक्त से अपनी तुण्ड को रँगकर वे जल के भीतर आ गये। उस समय उनकी शोभा का वर्णन करना कवि के बुद्धि के बाहर की बात है।

वे स्वयं तो नीलांजन के समान काले थे नीली रेशमी साड़ी पहिने पृथ्वी रानी उनकी सफेद दाढ़ पर घूँघट मारे बैठी थीं। वेग से चलने के कारण उनकी चूड़ियाँ खनखना रही थीं। दैत्य

के मारने से तुण्ड रक्त वर्ण की हो गई थी। भू देवी की साड़ी पर लाल-लाल छींटे पड़े हुए थे। उस समय वे ऐसी लगतीं थीं,

मानों गजराज ने किसी नील कमलिनी को उखाड़ कर दाँतों पर रख लिया हो और उसमें गेरू की मिट्टी के कण गिर गये हों।

लज्जा से सिमटी सिकुड़ी गुड़मुड़ी मारे नववधू के समान अपनी प्रिया को पाताल से लेकर परात्पर वाराह भगवान् बाहर निकले और उन्होंने उसे जल के ऊपर स्थापित कर दिया।

पृथ्वी को जल के ऊपर देखकर और वाराह भगवान को प्रसन्न देखकर सभी ऋषि मुनि आनन्द में विभोर होकर भाँति-भाँति के स्तोत्रों और सूक्तों से उनकी स्तुति करने लगे।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने तुमसे पृथ्वी उद्धार की संक्षिप्त कथा कही। अब इसके पश्चात् जो तुम पूछोगे उसका उत्तर दूँगा।"

छप्पय

तुरत शिला सम बढ़े पर्वताकार भये पुनि।
कान्ति तेज ऐश्वर्य निरखि निर्वाक् भये मुनि॥
विधि सोचें—ये यज्ञ पुरुष मन मेरो मोहें।
रूप अनूप बनाय अधर नभमहँ अति सोहें॥
सूकर हरि पय महँ घुसे, लाये पृथ्वी दाढ़ धरि।
हिरण्याक्ष मार्यो असुर, धरी धरित्री जल उपरि॥

—:०:—

श्रीवाराह चरित्र के लिये विदुरजी का आग्रह

[१३०]

निशम्य कौषारविणोपवर्णिताम्,
हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि—
र्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १४ अ० १ श्लोक)

छप्पय

सुनी विदुर हरि कथा सुखद संक्षिप्त सरस अति ।
तृप्ति न मन महँ भई कथा कीर्तन महँ दृढ़मति ॥
बोले—मुनि ! वाराह चरित का पूर्ण भयो है ।
नहिँ सुनिके सन्देह हमारो नाथ गयो है ॥
हिरण्याक्ष काको तनय, कहाँ भेंट हरि तें भई ।
युद्ध भयो कस कहाँ पै, कस पाताल मही गई ॥

संसारी लोग विषयों के भोग से कभी तृप्त नहीं होते और भगवत् भक्त भगवान् की तथा भक्तों की कथा और

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— 'राजन् ! जिन्होंने विशेष कारण से ही सूकर का-सा रूप बना लिया है, उन भगवान् की इतनी संक्षिप्त कथा को श्री मैत्रेय मुनि के मुख से सुनकर व्रतपरायण परम भागवत विदुर जी तृप्त नहीं हुए। इसलिए हाथ जोड़कर पुनः प्रश्न करने लगे।"

भगवन्नाम गुण कीर्तन करने से तृप्त नहीं होते। इन विषयों में दोनों ही सदा अतृप्त बने रहते हैं। एक सी अतृप्ति होने पर भी इन दोनों के फल में बहुत अन्तर है। विषयों की अतृप्ति तो बार-बार जन्म मरण प्रदान करती हुई जीव को जगत् में खींचकर लाती है और भगवत् तथा भागवतों के सम्बन्ध की अतृप्ति संसार बन्धन को काटकर भगवान् के समीप पहुँचाती है। यह तो सीधी सी बात है, जिसका जिस पर सत्य स्नेह होगा, जो पुरुष जिस विषय का सदा चिन्तन-मनन करता रहेगा, अन्त में वह उसी को प्राप्त होगा।

शौनकादि मुनियों की रुचि सदा भगवान् की कथा भगवत् सम्बन्धी कथाओं में ही लगी रहती है। तभी तो बार-बार उन्हीं पुराणों की कथा सुनकर भी वे पुनः-पुनः उन्हीं का प्रश्न करते हैं। सभी पुराणों में प्रायः अवतारों की कल्प भेद से कुछ-कुछ हेर-फेर के साथ एक-सी ही कथायें हैं फिर भी वे उन्हें बड़े उल्लास के साथ सुनते हैं। बड़ी मिठास के साथ उनके रस का आश्वादन करते हैं।

जब सूतजी ने संक्षेप में वाराह-चरित कहकर उसकी फल-श्रुति कह दी, कि जो पुरुष श्रीहरि की इस परम पवित्र मङ्गल-कारिणी, सर्व पाप विनाशिनी सूकरावतार की कथा को श्रद्धा के सहित श्रवण करता है, उसके हृदय में विराजमान श्री जनार्दन भगवान् उससे शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और जहाँ जीव पर भगवान् सन्तुष्ट हुए, तब फिर उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। वह कृतकृत्य हो जाता है। फिर वह इन संसारी क्षुद्र विषयों की ओर फिरकर भी नहीं देखता। वह देखना भी चाहे, तो उसके हृदय में स्थित श्रीश्यामसुन्दर उसकी समस्त विषयों सम्बन्धी वासनाओं को मेटकर अपना दुर्लभ परम पद उसे प्रेम-

पूर्वक प्रदान करते हैं। अतः मुनियो! सदा अवतार कथा ही श्रवण करनी चाहिये।"

इतना सुनते ही आश्चर्य के सहित शौनकजी पूछने लगे—"सूतजी! वाराह चरित्र की कथा समाप्त हो गयी क्या? कितने दिनों से आप पीछे से बार-बार कहते आ रहे हैं, कि आगे चल करके हम वाराह चरित्र विस्तार से सुनायेंगे, विस्तार से सुनायेंगे। इतने ही विस्तार के लिये इतने गीत गा रहे थे। इतनी कथा तो आप पीछे कुछ भाषा के हेर फेर से दो बार सुना चुके। हम इसी आशा में थे, आप आद्योपान्त सब सुनायेंगे कि भगवान् ने क्यों अवतार धारण किया? पृथ्वी कैसे पाताल में चली गई? यह हिरण्याक्ष दैत्य कौन था? किसका बेटा था? क्यों यह इतना पराक्रमी हुआ कि इसने भगवान् से लड़ने का साहस किया? भगवान् के साथ उनका कैसे युद्ध हुआ? भगवान् पाताल में हैं—उसे यह पता किसने बताया? पूर्वजन्म में यह कौन था? किस कारण से इसने भगवान् के शत्रुता की, इस बलवान् दैत्य को मारकर भगवान् ने उसे कौन-सी गति दी? इन सब बातों की जिज्ञासा तो हमें बनी की बनी ही रह गयी और आपने फलश्रुति कहकर कथा की समाप्ति की सूचना भी दे दी।

शौनकजी की ऐसी बात सुनकर सूतजी का रोम-रोम खिल उठा और अत्यन्त उल्लास के सहित बोले—"क्यों न हो मुनिवर! यह आपके अनुरूप ही प्रश्न है। भगवद्भक्त रसग्राही मधुप होते हैं। बार-बार सुस्वादु मधु पीने पर भी उनकी तृप्ति नहीं होती। महानुभाव! जैसे श्रोता आप है, वैसे ही राजर्षि परीक्षित भी थे। उन्होंने भी जब यहाँ पर ही कथा को समाप्त होते देखा, तो वे भी अकबकाकर पूछने लगे—"क्यों भगवन्! विदुरजी इतनी कथा से ही सन्तुष्ट हो गये क्या?"

यह सुनकर श्री शुकदेव जी हँसते हुये बोले—"राजन्!

विदुर जी की बात तो पीछे बताऊँगा, तुम्हारी तृप्ति हुई कि नहीं।"

शीघ्रता के साथ महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं, महाराज! मेरी तो संतुष्टि नहीं हुई। मेरी उत्कंठा तो इस कथा को सुनने की और अधिक बढ़ गई।"

तब श्रीशुक जी बोले—"जब राजन्! आपकी ही संतुष्टि नहीं हुई तो परम भागवत आपके पितामह के भी पितृव्य विदुर जी की संतुष्टि कैसे हो सकती है? जहाँ मैत्रेय जी ने फलश्रुति कही वहीं वे बोल उठे—"महाराज! यह क्या? भगवान् पाताल में गये, वहाँ हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी को ले आये। इतने में ही कथा हो गई क्या? हे मुनिवर! जब तक मनुष्यों की भी सृष्टि हुई नहीं, पृथ्वी भी जल पर टिकी नहीं, तभी तक यह राक्षस कहाँ पैदा हो गया? यह आदिदैत्य किसका पुत्र था? क्यों भगवान् से लड़ा, यह सब सुनाइये। जिसने भगवान् से टक्कर ली, वह कोई साधारण जीव तो होगा नहीं। भगवान् की कृपा के बिना, उनकी ही दी हुई शक्ति के बिना कोई उनके सम्मुख खड़ा होने का तो साहस कर ही नहीं सकता। लड़ने भिड़ने की बात तो अलग रही। अतः पहिले तो आप उन महाभाग्यशाली हिरण्याक्ष का चरित्र सुनावें जिन्हें शूकर भगवान् ने स्वयं ही मारा। पुनः उनके युद्ध की बात सुनाइये।"

भगवत् कथा के श्रवण में विदुरजी की ऐसी उत्सुकता देखकर उनकी प्रशंसा करते हुए मैत्रेय मुनि बोले—"विदुर जी! आप धन्य हैं, जो ऐसे प्रश्न कर रहे हैं। प्रायः लोग ऐसे ही व्यर्थ के संसारी प्रश्न पूछते हैं, जिनसे संसार बन्धन और अधिक जकड़ा जाय, जिससे बार-बार जन्म-मृत्यु की प्राप्ति हो, किन्तु आपके प्रश्न तो ऐसे हैं, कि आप तो इनको सुनकर मुक्त होंगे ही, और भी जो लोग सुनेंगे उनका भी कल्याण होगा। देखिये, जितने

विभीषण, प्रह्लाद, ध्रुव ययाति तथा अंबरीष आदि भगवत् भक्त हुए हैं वे सब हरि कथा के ही प्रभाव से स्वयं भी मृत्यु के सिर पर पैर रखकर परम पद को प्राप्त हुए हैं तथा अपनी अक्षुण्य कीर्ति भी सदा के लिये पृथ्वी पर छोड़ गये हैं, जिसके श्रवण से अब तक संसारी लोग तर रहे हैं और आगे भी तरते रहेंगे। इस प्रकार इस प्रश्न से आप भी अमर हो जायँगे। यह हिरण्याक्ष प्रजापति भगवान् कश्यप का पुत्र था। वह प्रजापति दक्ष की कन्या अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। वह बड़ा शूरवीर और पराक्रमी था। भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी इसे मारने में समर्थ नहीं था। इसलिये भगवान् ने वाराह रूप धारण किया।

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! इतने तेजस्वी और धर्मात्मा भगवान् कश्यप के वहाँ ऐसा क्रूरकर्मा पुत्र क्यों उत्पन्न हुआ? प्रायः दुष्ट संतान माता या पिता के बुरे विचारों से निन्दित आचरणों से होती है। भगवान् कश्यप के सम्बन्ध में तो ऐसे कर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दिति भी अच्छे वंश में उत्पन्न हुई थी। प्रजापति दक्ष की कन्या ही ठहरी। वह भी कोई ऐसा वैसा कार्य करे, यह भी सम्भव नहीं। फिर, ऐसा भगवत् द्वेषी पुत्र क्यों उत्पन्न हुआ? और फिर भगवान् ने सूकर का ही वेष क्यों बनाया? इन बातों को मुझे विस्तार के साथ सुनाइये।"

इसपर महामुनि मैत्रेय बोले—"विदुरजी! इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि भगवान की माया का यथार्थ तत्व कोई मानवीय तर्कों के द्वारा जान नहीं सकता। सभी जीव पूर्वजन्मों के संस्कार वश कार्य करते हैं। जिसके जैसे संस्कार होते हैं, उसके लिये वैसे ही संयोग जुट जाते हैं। नहीं तो भगवान् से लड़ने का साहस जीव कर ही कैसे सकता है और भगवान् को

भी ऐसे-ऐसे रूप रखने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु जब वे स्वयं ही क्रीड़ा करना चाहते हैं, जब वे स्वयं ही माया का आश्रय ग्रहण करके लड़ाई-भिड़ाई में प्रवृत्त होने को उद्यत हो जाते हैं, तो उन्हें रोके भी कौन ? किसकी सामर्थ्य है जो उनसे कहे, यह आपके अनुरूप नहीं है। रही, सूकर शरीर धारण करने की बात, सो यह ऊँच-नीच का भेद तो हम मनुष्यों के लिये है। भगवान् के लिये न कोई ऊँचा है न नीचा, न कुछ निन्दनीय है, न श्लाघनीय। उनके लिये सब समान है, सब एक-सा है। हमने ऐसा सुना है, कि पाताल में हिरण्याक्ष आदि दैत्यों ने पृथ्वी को ऐसी गन्दी वस्तु के परकोटे के भीतर रखा था कि उसे सूकर ही पार कर सकता था। सूकर जल में, स्थल में समान रूप से जा सकता है। सूकर से ही हिरण्याक्ष की मृत्यु बदी थी। ये सब तो गौण कारण हैं, मुख्य कारण तो है—उनकी इच्छा। उनकी इच्छा को उनके अतिरिक्त कौन जान सकता है ?

विदुरजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! मानवीय बुद्धि की पहुँच तो प्राकृतिक पदार्थों तक ही है। प्रभु तो प्रकृति से परे हैं। अच्छी बात है, अब आप मुझे हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् सम्बन्धी कथा सुनावें।"

यह सुनकर मैत्रेयजी बोले—"महाभाग ! एक बार मैं ब्रह्माजी की सभा में गया था। वहाँ बहुत से देवता भी बैठे थे। संयोग की बात कि वहाँ देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी से यही हिरण्याक्ष-वाराह युद्ध सम्बन्धी प्रश्न किया था। उन्होंने जो कुछ इस विषय में कहा था, उसे मैंने भी देवताओं के साथ समाहित चित्त होकर श्रवण किया था। भगवान् चतुरानन के मुख से मैंने जिस प्रकार यह इतिहास सुना है, उसी प्रकार मैं आपको सुनाता हूँ, आप एकाग्र मन से श्रवण करें।"

इतना कहकर मैत्रेयजी आगे की कथा कहने लगे।

छप्पय

कृष्ण कथा रुचि होहि सफल जीवन है जबई।
सुनें सुयश सब समय श्रवन सार्थक हैं तबई॥
सोवें खावें करें पुत्र पैदा पशु पच्छी।
नर तनु यही विशेष लगें हरि लीला अच्छी॥
सन्त सरल चित-जगत् जन, चरण गहत सब सुख लहहिँ।
यदपि भक्त नहिं हौं तदपि, कथा कृपा करिकें कहहिँ॥

कश्यपजी से अनुचित प्रार्थना

[१३१]

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥
एष मां त्वत्कृते विद्वन्काम आत्तशरासनः ।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १४ अ० ७, ६ श्लोक)

छप्पय

बोले मुनि मैत्रेय—'विदुर विस्तार बताऊँ ।
जस विधि सब इतिहास सुन्यो तस तोहि सुनाऊँ ॥
इक दिन सन्ध्या समय दक्ष दुहिता दिति देवी ।
ह्वैकें कामातुरा गई जहँ पति हरि सेवी ॥
कजरारे नैननितें, घूँघट महँ ते चोट करि ।
चाहहि पति तें रति तुरत, शील त्यागि पटुका पकरि ॥

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"हे वत्स ! एक समय की बात है कि प्रजापति दक्ष की पुत्री कामातुरा होकर पुत्र प्राप्ति की इच्छा से सायंकालीन सन्ध्या के समय, अपने पति मरीचि पुत्र भगवान् कश्यपजी से रति की प्रार्थना करते हुए कहने लगी—'हे विद्वन् ! आपको निमित्त बनाकर यह महाबली कामदेव, हाथ में बाण-धनुष धारण किये मुझे उसी प्रकार पीड़ित कर रहा है, जिस प्रकार कदली के वृक्ष को मतवाला मातङ्ग मसल डालता है । अतः हे स्वामिन् ! मुझ पर कृपा कीजिये ।"

जब जीव भगवान् के ध्यान को त्याग कर संसारी क्षुद्र विषयों का ध्यान करने लगता है, तो उन विषयों में एक प्रकार की आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से ही काम वासना उत्पन्न होती है। कामना पूरी होने पर उसमें अत्यधिक राग बढ़ता है, न पूरी होने पर—विघ्न होने से—क्रोध की उत्पत्ति होती है, इसलिये अनर्थ का मूल कारण है, विषयों का ध्यान करना। दूसरों को विषय—सुख में प्रवृत्त देखकर ईर्ष्यावश अपने भी उसे प्राप्त करने के लिये उचित-अनुचित उपायों से प्रयत्न करना। ऐसा करने से जीव का पतन होता है और इससे कैसे-कैसे अनर्थ हो जाते हैं, इसी को बताने के लिये सूतजी विदुर-मैत्रेय सम्वाद के अन्तर्गत दिति-कश्यप सम्वाद को सुनाते हैं।

सूतजी बोले—"मुनियो! जब राजा परीक्षित् ने विस्तार से वाराह चरित सुनने की जिज्ञासा की, तब श्री शुकजी उसी विदुर मैत्रेय सम्वाद को विस्तार के साथ कहने लगे। विदुरजी के पूछने पर ब्रह्माजी के मुख से सुने इतिहास को मैत्रेय मुनि इस प्रकार सुनाने लगे।"

मैत्रेयजी बोले—"विदुर! हम बता ही आये हैं, सृष्टि के आरम्भ में मरीचि आदि १० मानसिक पुत्र ब्रह्माजी के हुए। मरीचि के कश्यप मुनि हुए जिनकी सन्तानों से यह सम्पूर्ण जगत् भर गया है। कश्यपजी के बहुत-सी पत्नियों में से एक पत्नी दिति भी थी, जिसके पुत्र दैत्य हुए। ये हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु इसी दिति के गर्भ से उत्पन्न हुए।"

विदुरजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! किस दोष के कारण ये लोग क्रूर कर्मा दैत्य हुए? दक्षसुता दिति देवी ने ऐसा कौन-सा बुरा कार्य किया था? इसे आप मुझे बतावें।"

इस पर मैत्रेयजी कहने लगे—"विदुरजी! दिति देवी ने

ईर्ष्यावश पुत्र प्राप्ति के लिये अपने परमात्मा सदृश पति से असमय में गर्भाधान के लिये आग्रह किया था। बात यह थी, भगवान् कश्यप की और सब पत्नियों के तो बहुत सी सन्तानें हो गई थीं, किन्तु दिति के अभी तक कोई सन्तान नहीं थी। इसलिये वह अपनी सौतों से ईर्ष्या करती थी। उसने सोचा—मैं ही एक अभागिनी हूँ, जो मेरे पति ने मुझे सन्तान प्रदान नहीं की। मैं इसी समय उनसे महा बलवान् सर्वश्रेष्ठ सन्तान के लिए प्रार्थना करूँगी। यह सोचकर वह महामुनि के समीप गई।"

उस समय सन्ध्या की वेला थी। कश्यप मुनि अग्निहोत्रशाला में स्नान करके सायंकालीन सन्ध्या और अग्निहोत्र की तैयारी कर ही रहे थे, कि इतने में यह अपने हाव-भाव कटाक्षों को प्रदर्शित करती हुई मुनि के समीप पहुँची। असमय में इस प्रकार के भाव को देखकर मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चिन्तित हुये और उन्होंने बात को टालने की दृष्टि से इधर-उधर की बातें करना आरम्भ किया—"अरी, देवी! देखो वह अग्निहोत्र वाली गौ चरने गई थी, वह आई या नहीं। उसका बच्चा बहुत छोटा है, उसे तुम दूध पिलाती हो या नहीं।"

दिति को तो दूसरी ही धुन सवार थी, वह प्रेम के कोप के साथ बोली—"आपको हर समय अपने ही काम की पड़ी रहती है, कि कुछ हमारी भी आप चिन्ता करते हैं। सबको अपना ही सुख प्रिय है, दूसरे चाहें भाड़ में पड़ें, उनकी कोई बात नहीं पूछता।"

कश्यपजी उसके भाव से ही समझ गये, कि आज कुछ दाल में काला है, अतः बड़े स्नेह से बोले—"हाँ, कहो क्या बात है, तुम्हें कौन-सा कष्ट है? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? किसके द्वारा तुम्हें क्लेश हुआ है?"

दिति ने अपनी प्रेम और ममता भरी दृष्टि मुनि की दृष्टि में

बोलते हुए कहा—"भगवन् ! आज मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो आप मेरा कष्ट पूछते हैं। क्या कष्ट बताऊँ, महाराज ! जो जिस कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता उसके सम्मुख उस कष्ट का कथन करना व्यर्थ ही है। आप ठहरे पुरुष, पुरुषों को क्या पता, स्त्रियों को अपनी सौतों के द्वारा कितना कष्ट होता है ?"

कश्यपजी ने चिन्तित होकर पूछा—"देवि ! किसने तुम्हारा अपकार किया। किसने तुम्हें अपमानित किया ? किसके द्वारा तुम्हें ऐसी मानसिक वेदना हो रही है ?"

दिति बोली—"देव ! मेरा किसी ने अपमान नहीं किया है। मुझे आपके ही कारण मानसिक पीड़ा हो रही है। यह सामने देखिये, ऊख का धनुष चढ़ाये कुसुमों के बाणों से यह कामदेव मुझे पीड़ित कर रहा है। आप इससे मेरी रक्षा कीजिये। इसके प्रहारों से मुझे बचाइये, मेरी मनोकामना पूर्ण कीजिये।"

कश्यपजी ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ प्यार से अपनी पत्नी को घुड़कते हुए कहा—"देवि ! तुम ये कैसी गड़बड़-सड़बड़ बातें कर रही हो। दक्ष की पुत्री के लिये ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं। कुलीन महिलायें कभी काम के अधीन होकर ऐसी असामयिक बातें नहीं कहतीं। काम के वश तो अकुलीन अनार्य होते हैं जो क्षुद्र पुरुष होते हैं, जो धर्म के मर्म को नहीं जानते, जिन्होंने कभी श्रद्धा से सत्पुरुषों की सेवा सुश्रूषा नहीं की है। पति-पत्नी का संग काम के लिये नहीं होता, केवल कुल वृद्धि और पुत्र प्राप्ति के ही निमित्त होता है।"

स्नेह से आँसू बहाती हुई दिति बोली—"यही तो मुझे दुःख है कि आप मेरे ही साथ सदा पक्षपात करते हैं। मेरी सौतों के अब सैकड़ों सन्तानें हो गई हैं और मेरे एक भी नहीं। मैं नहीं जानती थी कि आप मेरे साथ ऐसा अन्याय करेंगे। कितनी आशा, कितनी आकांक्षा के साथ मैंने आपको वरण किया था, मेरी

समस्त आशाओं पर पानी फिर गया, आपने मेरे प्रेम को ठुकरा दिया। जिस प्रकार पाला पड़ने से कुमुदिनी झुलस जाती है। उसी प्रकार आपने मेरे मन को झुलसा दिया।"

कश्यपजी ने ममत्व के साथ कहा—"देवि! आज तुम कैसी बातें कर रही हो। ऐसी बातें तो तुम मुझसे पहिले कभी नहीं करती थीं। तुम तो सदा मुझसे बड़ा स्नेह रखती थीं।"

उसी कोप के स्वर में दिति कहती गई—"महाराज! स्नेह की बात पूछ रहे हैं। मैंने कभी अपने मुँह से यह बात कही नहीं, न कभी कहना ही चाहती थी, किन्तु आज प्रसङ्ग आने पर बिना कहे मुझसे रहा नहीं जाता। जिस समय से मेरा मन आपके चरणकमलों में अटक गया था। मेरे पिता भगवान् दक्ष हम सभी पुत्रियों पर बड़ा स्नेह रखते थे, हमें प्राणों के समान प्यार करते थे। सदा हमें सुखी देखना चाहते थे। एक दिन उन्होंने हम सब बहिनों को एकान्त में पृथक्-पृथक् बुलाकर बड़े स्नेह के साथ पूछा—"बेटियो! तुम सच-सच बता दो, तुम किनके साथ विवाह करना चाहती हो? पिता का अपनी सयानी पुत्रियों से ऐसा प्रश्न करना है तो अनुचित, किन्तु स्नेह वश पूछना ही पड़ता है। मैं चाहता हूँ, तुम सदा सुखी रहो, तुम्हारे मन के अनुरूप ही पति प्राप्त हो, जिससे तुम्हारा समस्त जीवन आनन्द और सुखमय हो सके।

पिता के पूछने पर हम तेरह बहिनों ने लजाते हुए बड़े सङ्कोच से आपकी ही ओर संकेत कर दिया। उन सबमें मैं तो आपके गुण, शीतलता तथा सदाचार से बहुत ही आकर्षित हुई थी। मैंने तो विवाह के पूर्व ही अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में समर्पित कर दिया था। तब से सदा आपकी सेवा ईश्वर बुद्धि से अव्यग्र होकर करती रहती हूँ।"

कश्यपजी ने कहा—"देवि! तुम प्रेम की बात को प्रकट करके

उसका महत्व मत घटाओ। मैं तुम्हारा स्नेह जानता हूँ, तुम मेरे ऊपर कितना अनुराग रखती हो—यह मुझे अविदित नहीं।"

दिति ने मुख ढककर रोते हुए कहा—"प्रेम का प्रदर्शन नहीं कर रही हूँ। अपने भाग्य को रो रही हूँ, कि जिनके प्रति मेरा ऐसा अनुपम अनुराग है, उनका मेरे प्रति ऐसा कठोर व्यवहार मेरे किन्हीं पूर्व-जन्म के पापों का ही फल है।"

कश्यपजी ने दीनता के स्वर में कहा—"मैंने ऐसा कौन-सा कठोर व्यवहार किया तुम्हारे साथ?"

आँसू पोंछते हुए दिति ने कहा—"महाराज! इससे अधिक कठोर व्यवहार और क्या होगा? मेरी सभी बहिनें पुत्रवती हो गई हैं, सौभाग्यशालिनी बन गई हैं। मैं अकेली ही दीना, भाग्य-हीना और सन्तान रहित, बनी हुई हूँ, मुझे आपने अब तक कोई सन्तान प्रदान नहीं की।"

कश्यप मुनि ने देखा कि यह असम्बद्ध प्रलाप कर रही है, अपने आपे में नहीं है। इसके सिर पर कुसुमायुध सवार है। अब क्या करें? साम, दान, भेद और दण्ड ये चार उपाय होते हैं। इसलिये मुनि ने चारों का प्रयोग किया पहिले शान्ति के साथ समझाते हुए बोले—"प्रिये! आज तुम कैसी रूखी-रूखी बातें कर रही हो? बताओ, मैं कभी तुम्हारी इच्छा के बाहर हुआ हूँ, जो कार्य तुम्हें प्रिय न हो, ऐसा कोई कार्य मैंने किया है? मैं क्या, कोई भी समझदार आदमी सब सुख देने वाली अपनी सहधर्मिणी की इच्छा के विरुद्ध कभी कोई अप्रिय कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। पत्नी तो घर की कामधेनु है, कल्पलता के समान है। उसकी शरण में जाने से मनुष्य जो कामना करता है, वही तत्क्षण पूरी होती है। ऋषियों ने धर्म, अर्थ और काम, इनको

त्रिवर्ग कहा है। संसार में ये ही तीन पुरुषार्थ हैं। पुरुष पत्नी से ही इन तीनों को प्राप्त कर सकता है। पत्नी के बिना सभी यज्ञ याग आदि धार्मिक कृत्य अधूरे हैं, यज्ञ तो पत्नी के बिना हो ही नहीं सकता। धर्म करने से अर्थ की वृद्धि होती है। अर्थ का सुख भी पत्नी के ही साथ भोगा जा सकता है। बिना पत्नी के अर्थ किस कामका ? काम का तो स्त्री जननी ही है। इसीलिये उसे कामधुरा, कामिनी और कामप्रसूता कहा है। ऐसी पत्नी का आदर भला कौन नहीं करेगा ?"

दिति ने क्रोध से कहा—"महाराज ! कहना तो नहीं चाहिये, किन्तु समय पर कहना ही पड़ता है, आप जैसे सदा धर्म में ही लगे रहने वालों को छोड़कर और कोई गुणग्राही पुरुष तो अपमान करेगा नहीं।"

कश्यपजी ने कहा—"आज तुम कैसी बातें कर रही हो, मानों लड़ने को तैयार होकर ही आई हो। देखो, हम तो गृहस्थ हैं न ? गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य धर्म का पालन करना है। काम भोग तो गौण है। घर में रहते हुए गृहस्थ स्त्री के सहारे से ही धर्म-कार्य करता-करता अन्त में मोक्ष तक को प्राप्त कर सकता है। संसार रूपी यह बड़ा भारी अगाध दुस्तर सागर है। गृहस्थ इसे पार करना चाहे, तो उसके लिये नारी रूपी दृढ़ नौका ही पार जाने का एकमात्र उपाय है। स्त्री का आश्रय लेकर गृहस्थ बड़ी सुगमता से सुखपूर्वक इस दुःख सागर को बात की बात में हँसते हुए पार कर सकता है।"

दिति बोली—"आप जैसे समर्थ पुरुषों को नौका की क्या अपेक्षा ? आप तो अपने बाहुबल से अथवा उड़कर भी सागर के पार जा सकते हैं।"

कश्यपजी बोले—देवि ! समुद्र को किसी ने बाहुबल से पार किया भी है ? जो बिना विचारे अकेले तैरने लगते हैं, उनका

बीच में ही पतन हो जाता है। कोई हनुमान की तरह बाल ब्रह्मचारी इसे लाँघ भी जाते हैं, किन्तु ऐसे इने-गिने विरले ही होते हैं। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सदा मनुष्य को घेरे रहते हैं, उसे पराजित करने का प्रयत्न करते हैं। बिना आश्रय का मैदान में अकेला खड़ा पुरुष, सदा सावधान रहने पर भी, तनिक-सी असावधानी होते ही, शत्रुओं के वश में हो जाता है। किन्तु गृहस्थी में पत्नी रूपी किले का आश्रय ग्रहण करके शत्रुओं को मनुष्य बात की बात में जीत सकता है। स्त्री शत्रुओं से रक्षा करने वाली दृढ़ परकोटा वाली रक्षिका है, भय से बचाने वाली है। हे मानिनि! तुम मान को छोड़ो, तुम घर की ही स्वामिनी नहीं हो, मेरे हृदय की भी सम्राज्ञी हो।"

दिति सूखी हँसी हँसकर प्रणय कोप के साथ कुटिल कटाक्ष निक्षेप करती हुई बोली—"मैं तुम्हारी इन बनावटी मीठी-मीठी बातों में आने वाली नहीं हूँ। पुरुष बड़े स्वार्थी होते हैं। जब इन्हें कोई काम निकालना होता है, तो ऐसी बढ़ावे की बातें बना-बनाकर वनिताओं को वञ्चित कर लेते हैं। मैं समझ गई, आपको मुझसे प्रेम नहीं है, इस अग्निहोत्र और यज्ञशाला से ही आपको अत्यधिक स्नेह है, तभी तो आप मेरी इतनी प्रार्थना पर भी इसे त्याग कर मेरे कार्य के लिये स्थानान्तर में जाना स्वीकार नहीं करते।"

मुनि ने देखा साम से काम न चला, अतः उन्होंने दान का आश्रय लिया। वे बोले—"वरवर्णिनी! देखो, तुम मेरे ऊपर विश्वास रखो। मैं तुम्हें अवश्य पुत्र दूँगा। बहुत दिनों में नहीं, आज ही। देखो, यह तो हम गृहस्थियों का कर्तव्य है। जो गृहिणी रात्रि दिन अपने शरीर सुखों की ओर ध्यान न देती हुई, घर के कार्यों में लगी रहती है और पति को हर प्रकार से सुखी बनाने

की चेष्टा करती रहती है, उसका प्रत्युपकार पुरुष सम्पूर्ण आयु में किसी भी कार्य से नहीं कर सकता। अपने जीवित शरीर का चर्म उतार कर भी उसके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। पुत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना पत्नी का धर्म है, अधिकार है, स्वत्व है। किन्तु अभी तुम थोड़ी देर ठहर जाओ। क्षण भर को धैर्य धारण करो। यह सन्ध्या का बड़ा घोर समय है। इस समय यदि मैं तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार कर लूँगा,तो संसार में बुरा आदर्श उपस्थित होगा। सब लोग हमारी निन्दा करेंगे। हम ही धर्मप्रवर्तक माने जाते हैं। हमारे आचरणों का ही लोग अनुकरण करते हैं। सन्ध्या को समाप्त होने दो। भगवती निशा को भली-भाँति आ जाने दो। मैं कुछ काल के अनन्तर ही तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण करूँगा। तुम्हारी इष्ट वस्तु का दान दूँगा।"

दिति बोली—"भगवन्! आप ये घुमा फिरा कर चक्कर की बातें क्यों कर रहे हैं। स्पष्ट मना कर दें, कि मेरा तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं, मैं तुम्हारी किसी बात को नहीं सुनता।"

भगवान् कश्यप को कुछ क्रोध आ गया। फिर उन्होंने सोचा– क्रोध करने से काम बिगड़ जायगा। साम, दान के व्यर्थ हो जाने पर बुद्धिमान् को 'भेद' डालकर काम निकालना चाहिये। यही सोचकर वे बोले—"दिति! तुम असमय में अनुचित प्रस्ताव कर रही हो। अपने कुल की ओर ध्यान दो। समय का विचार करो। तुम भगवान् भूतनाथ शिव की पत्नी सती की बहिन हो। यह उन्हीं तुम्हारे बहनोई शिवजी के घूमने फिरने का समय है। इस समय में तुम्हें ऐसे कार्य में प्रवृत्त होते देखकर वे हँसेंगे,जाकर सती से कहेंगे—"अरे, तेरी बहिन तो विवेकशून्या है।" तुम्हारी हमारी दोनों की वे निन्दा करेंगे। कभी तुम्हारे पिता के यज्ञ में भेंट होगी, तो वे तुम्हें लज्जित करेंगे हमें भी सिर नीचा करना

पड़ेगा। फिर वे हमसे इतने स्नेह से न मिलेंगे, सम्बन्धियों में परस्पर में भेद हो जायगा।

इस बात को सुनकर भी दिति ने अपनी हठ को नहीं छोड़ा। बालहठ से राजहठ कठिन होती है और राजहठ से त्रियाहठ और भी भयंकर होती है। ये तीन हठ ही संसार में कठिन कही गयी हैं। दिति बोली—"महाराज! मैं दूध पीने वाली बच्ची तो हूँ नहीं, जो आप मुझे फुसला लेंगे। अपने घर में सभी अपने-अपने काम करते हैं। शिवजी को क्या आवश्यकता कि हमारे घर में घुसकर देखें।"

कश्यपजी ने कहा—"उनको घुसना नहीं पड़ता, वे तो सर्वज्ञ हैं। इस समय तो वे सम्पूर्ण आकाश में अपने गण भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, तथा वेतालों के साथ व्याप्त रहते हैं। इस समय जो भी प्राणी उचित अनुचित जो भी कार्य करता है, रुद्रदेव उस सबको देखते हैं।"

दिति ने कहा—"देखें, हम कोई पाप तो करते नहीं। वे क्या जानते नहीं? क्या सतीजी ने उनसे ऐसी हठ कभी न की होगी?"

अब मुनि ने देखा बिना क्रोध किये काम न चलेगा। अब साम, दान, भेद के अनन्तर दण्ड का ही प्रयोग करना शेष रहा। अतः वे दिति को दण्ड का भय दिखाते हुए बोले—"तू क्या समझती है, शिवजी देखकर ही छोड़ देंगे। वे क्रोध करके अपने त्रिशूल से तेरे गर्भ के सौ टुकड़े कर देंगे। तेरा मनोरथ वे भूतनाथ विफल कर देंगे। उनके विहार वेला में तू अनुचित कार्य करके सुखी न हो सकेगी।"

दिति ने कहा—"मैं कहाँ उनका अपराध कर रही हूँ। आप व्यर्थ का भय उत्पन्न कराके मुझे अकारण डरा रहे हैं।"

इतने में ही कश्यपजी ने ऊपर देखा कि अपने भूत-प्रेतों

को लिये हुए रुद्र भगवान् प्रत्यक्ष आकाश में उपस्थित हैं। ये भगवान् शिव को प्रणाम करते हुए, दिति को उन्हें दिखाते हुए बोले—"अरे चण्डी देख, ऊपर तो देख! जिनका सम्पूर्ण शरीर श्मशान की धूलि से धूसरित हो रहा है। जिनके जटा जूटों में चिता की भस्म लिपटी हुई है। शुभ्र भस्म के कारण जिनका गौर शरीर कान्ति से देदीप्यमान होकर दशों दिशाओं को को आलोकित कर रहा है, वे तेरे पति के ही समान सम्बन्धी तेरी बहिन के पति रुद्रदेव आकाश में स्थित हैं। क्या तू उन्हें देख नहीं रही है?"

शिव के दर्शन निर्मल नेत्रों से होते हैं, जिनके नेत्र काम रूपी रोग से व्याप्त हैं, उन्हें प्रत्यक्ष होने पर भी शिवजी दिखाई नहीं देते। दिति को भगवान् रुद्र के दर्शन नहीं हुए। वह बोली—"मुझे तो अपनी बहिन सती के स्वामी शिव दिखाई देते नहीं। देखिये, आप बार-बार उनका नाम लेकर मुझे डरावें नहीं। एक तो वे यहाँ हैं नहीं। मान लो, वे उपस्थित भी हों, तो वे अकारण मेरे गर्भ को नष्ट क्यों करेंगे? गर्भ का नाश तो शत्रु भी नहीं करते, फिर वे तो हमारे सुहृद् हैं, सम्बन्धी हैं, बहनोई हैं।"

यह सुनकर रोष में भर कर कश्यपजी बोले—"इस भूल में मत रहना! वे हमारे सम्बन्धी हैं। उनका संसार में न कोई अपना है, न पराया। न उनके लिये कोई प्रेम-पात्र है न द्वेष करने योग्य। वे सबके साथ समान बर्ताव करते हैं, अधर्म, पाप जो भी करेगा उसे ही वे दण्ड देंगे। पुण्य जो भी करेगा, उसे ही वरदान देंगे। उनको संसारी ऐश्वर्यों की भी अभिलाषा नहीं लोक-परलोक किसी वस्तु की वासना नहीं, जिन सम्पत्तियों के लिये हम सतत प्रयत्न करते हैं, सहस्रों साधनों के द्वारा जिन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, वे सम्पत्तियाँ—आठों सिद्धि, नवों निद्धि—उनके चरणों में सदा लोटती रहती हैं। वे उनकी ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखते।"

यह सुनकर दिति बोली—"मैं कब कहती हूँ, वे निर्धन हैं। किन्तु आप ही कहते हैं, वे नंगे रहते हैं, भीख माँगते हैं, स्मशान में लोटते रहते हैं। भूत, प्रेत, पिशाचों के साथ नाचते हैं। वे नाचें, हम उनकी निन्दा तो करते नहीं।"

कश्यपजी ने कहा—"देखो, वे ईश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं, भक्तों की इच्छानुसार वर देने वाले हैं, अद्वितीय हैं, ब्रह्मादिक देवताओं तथा इन्द्रादिक लोकपालों के भी नियामक हैं, माया के वे स्वामी हैं, संसार उनके संकेत से उत्पन्न होता और विलीन होता है। यह सब होते हुए भी उन्होंने स्वेच्छा से प्रेतचर्या ग्रहण की है। जो दुष्ट बुद्धि पुरुष, जान बूझकर अथवा अनजान में उनका अपराध करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, वे अभागे पुरुष कभी सुख शान्ति के अधिकारी नहीं हो सकते। इसीलिये तुम हठ को छोड़ो, भगवान् भूतपति रुद्रदेव का अपमान मत करो, बैठे ठाले विपत्ति मोल मत लो। यदि तुम मेरी बात न मानोगी, तो अन्त में घोर दुःख उठाओगी सदा पछताओगी।"

कश्यपजी के इतना समझाने पर भी दिति ने अपनी हठ नहीं छोड़ी। वह अपनी बात पर अड़ी ही रही। तब तो मुनि दुखी हुए और क्षण भर मौन होकर सोच में पड़ गये।

छप्पय

साम दाम अरु भेद दंड तें मुनि समुझावहिं।
असमयमहँ यह कार्य निन्द्य पुनि-पुनि बतलावहिं॥
भीषण वेला कही रुद्र को भय दिखलायो।
किन्तु काम वश भई धर्ममत मन नहिं भायो॥
कामातुर नर नारि है, सत्य, शील, संयम तजहिं।
विनय विवेक बिसारिकें, विषय वासना ही भजहिं॥

मन्मथ का प्राबल्य

[१३२]

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १४ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

हाथी बश महँ करें सिंह कूँ पकरि पछारें ।
परवत डारें तोरि सिन्धु तें रतन निकारें ॥
जायँ रसातल फोरि गगन महँ अधर उड़ावहिँ ।
विष-हालाहल तीक्ष्ण खाहिँ पुनि ताहि पचावहिँ ॥
कबहुँ न पग पीछे परयो, सदा समर विजयी भये ।
किन्तु काम के कुसुम सर, लगत तुरत ते गिरि गये ॥

विनय, लज्जा, शील संकोच आदि सद्गुण मनुष्यों के हृदयों में तभी तक रहते हैं, जब तक उनके हृदयों में काम का प्रवेश नहीं हुआ। यह काम रूपी शत्रु ऐसा प्रबल है, कि यह अकेला ही समस्त गुणों का नाश कर देता है। काम से ही लोभ, मोह, क्रोध आदि सभी दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। जो इस काम को अवसर नहीं देते, निरभिमान होकर अपने को भगवत् चरणार

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी ! कामदेव ने जिसकी समस्त इन्द्रियों को मथित कर डाला है, ऐसी वह कामातुर दिति पति के बहुत समझाने पर भी न मानी। उसने वाराङ्गना की भाँति निर्लज्जता पूर्वक महर्षि कश्यपजी का वस्त्र पकड़ लिया।"

विन्दों का सेवक समझकर सर्वदा सेवा सुश्रूषा तथा कथा कीर्तन में लगे रहते हैं, उनके समीप काम आता तो है, किन्तु दूर खड़ा होकर प्रतीक्षा करता रहता है; कि कब ये भगवत् चिन्तन से विमुख हों और कब मैं उनके हृदय में प्रवेश करके अपना अधिकार जमाऊँ। यदि उसे छिद्र मिल जाता है, अर्थात् साधक कथा कीर्तन तथा नित्य कर्मों में प्रमाद करता है, तो काम को उसी समय प्रमाद बुला लाता है। किन्तु जो प्रमाद को ही नहीं आने देते, नित्य नियम से सावधानी से लगे रहते हैं, उन्हें काम छोड़ देता है। क्यों कि जहाँ राम हैं, वहाँ काम रह ही नहीं सकता। निरभिमान होकर निरन्तर नारायण के चिन्तन के अतिरिक्त काम को भगाने का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। मनुष्य कितना भी बली हो, कितना भी शूर हो, कितना भी तेजस्वी यशस्वी हो, कितना भी विद्वान्, बुद्धिमान, जपी, तपी, त्यागी तथा विरागी क्यों न हो, अहङ्कार आते ही कामवश होकर गिर जाता है। इसी काम की प्रबलता को स्मरण करते हुए विदुरजी मैत्रेय मुनि से पूछते हैं—"मुनिवर! भगवान् कश्यप के इतने समझाने पर भी दिति ने अपनी हठ नहीं छोड़ी। इससे तो मैं यह समझता हूँ कि जब मनुष्य काम के वश हो जाता है, तब उसे कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, वह बड़ों का शील संकोच भी खो बैठता है, अपनी ही बात को रखने के लिये विमूढ़ बन जाता है।"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुर जी! आप यथार्थ कह रहे हैं। काम सदा संकल्प से होता है। मन में जहाँ काम उत्पन्न हुआ नहीं, कि फिर उसे संसार में कुछ सूझता नहीं। काम एक प्रकार का भूत है। जिसके सिर पर यह सवार हो जाता है, उसकी समस्त इन्द्रियों को मथकर अपने अधीन कर लेता है। तभी तो दिति ने अपने पूज्य पति, जो प्रजपति हैं,

महर्षि हैं, सुर असुरों के जो पूजनीय पिता हैं, उनकी भी बात नहीं मानी। इसमें हम किसे दोष दें। काम को, दिति को अथवा प्रारब्ध कर्मों को ?"

तब विदुरजी ने पूछा—"हाँ, तो महाराज ! फिर जब कश्यप भगवान् ने उसके प्रस्ताव को अनुचित बताकर अस्वीकार कर दिया, तब उसने क्या किया ?"

मैत्रेयजी बोले—"किया क्या ? उसने अपने अधिकार का प्रयोग किया। यज्ञशाला में बैठे हुए अपने प्रजापतियों के भी पूजनीय पति का निर्लज्जता के साथ पल्ला पकड़ लिया। उसने शील संकोच को तिलांजलि दे दी।"

इस पर शौनकजी ने सूतजी से पूछा—"सूतजी ! यह बात हमारी समझ में आई नहीं, दक्ष प्रजापति की पुत्री, कश्यप भगवान की पत्नी एक ऐसी क्षुद्र सी बात पर इतना आग्रह करे। कोई बड़ी बात तो थी नहीं। घड़ी दो घड़ी को बात थी, धैर्य धारण कर लेती। ऐसी भी क्या आकुलता। हमें तो इस प्रसंग में कुछ अतिरञ्जन सा प्रतीत होता है।

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"अब महाराज! मैं आप से क्या कहूँ ? आप प्रातःकाल से उठकर अर्ध रात्रि पर्यन्त तो भगवत् कैंकर्य में लगे रहते हैं। आपको इसका अनुभव कैसे हो सकता है ? आप काम को अवसर ही नहीं देते। काम आता है मद से। मद होता है स्वामीपने से। मैं कुलीन हूँ, विद्वान् हूँ, धनी हूँ, ऐश्वर्यशाली हूँ। मैं इतने ग्राम का स्वामी हूँ, मेरे इतने नौकर शिष्य सेवक हैं, मैं इनका शासन कर्ता हूँ, मैं त्यागी हूँ, तपस्वी हूँ, आदि-आदि। ये ही मद के चिह्न हैं। मद में भरकर अहङ्कारवश जब मनुष्य स्वेच्छा पूर्वक इन्द्रियों के अधीन होकर काम करने लगता है, तभी उस मन में मनसिज-कामदेव का प्रादुर्भाव होता है। जिन लोगों को परमार्थ सम्बन्धी बहुत कार्य नहीं, जो खाली बैठे विषयों का ही चिन्तन करते हैं, उन्हें ही आकर काम पछाड़ता है। जो हर समय शुभ कार्यों में लगे हैं, उनके पास काम फटकता ही नहीं। दूर खड़ा खड़ा उनकी गति विधि को देखता रहता है। आप प्रातःकाल नित्य ही अप्रमत्त होकर ऊषाकाल में उठ जाते हैं। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सूर्योदय से पूर्व ही भगवती गोमती में स्नान कर लेते

हैं, स्नान करते ही संध्या वन्दन जप करके अग्निहोत्र और विशिष्ट यज्ञ के कार्यों में लग जाते हैं। शालिग्राम भगवान् का पूजन करते है, हरी-हरी तुलसी की मंजरियों से भगवन्नामों को लेकर उन पर चढ़ाते हैं। मध्याह्न तो इन्हीं कृत्यों में हो जाता है भगवान् का भोग लगता है, प्रसाद पाते हैं। इतने मे ही पुराण की कथा का समय हो जाता है। पुराण श्रवण करते हैं। भगवन्नाम कीर्तन होता है, सायंकालीन संध्या, जप, अग्निहोत्र करते हैं, शास्त्र चर्चा होती है, इन सब कार्यों के करने से आप इतने श्रान्त हो जाते हैं, कि पड़ते ही गहरी निद्रा आ जाती है। ऊषाकाल में ही आँखें खुलती हैं। आपके पास आकर कामदेव क्या करेगा, अपना सिर फोड़ेगा? स्वामी आप बनते नहीं, भक्ति मार्ग का आपने आश्रय लिया है, त्याग का आपको अभिमान नहीं, यज्ञ के ही लिये सही–भगवद् आराधना के ही लिये क्यों न हो–आपने यह इतना समह कर रखा है। इसलिये आप तो काम के सभी द्वारों को बन्द करके किले में भीतर निश्चिन्त बैठे हैं, अभिमान को आने ही नहीं देते। उससे बाहर आवें, मन की लगाम को कुछ ढीली करें, कथा कीर्तन और भगवत् कैंकर्य से अवसर निकाल कर मन को थोड़ा इधर-उधर स्वच्छन्द होकर घूमने फिरने दें। तब आपको पता चलेगा, कि काम कितना प्रबल होता है। महाराज! ऐसे लोगों की बात तो मैं कहता नहीं, जिन्होंने अपना सर्वस्व श्रीहरि के चरणों में समर्पण कर दिया है। ऐसे लोगों को छोड़कर और कोई इसके चक्कर से बचा नहीं। भगवन्! ऐसे लोगों को मैं जानता हूँ, जो पहिले बड़े त्यागी, तपस्वी और विरक्त थे। उनके त्याग वैराग्य से आकर्षित होकर बहुत से स्त्री-पुरुष उनके समीप आने लगे और श्रद्धा भक्ति प्रकट करते हुए उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने लगे।

संसारी लोगों का प्रेम तो आप जानते ही हैं। सभी का

नियम यह है जिसमें वह अपने को सुखी मानता है, वही अपने प्रेमी को देता है। संसारी लोगों के लिये सबसे बड़ा आनन्द विषय सुख है, संसारी लोग उन त्यागी-तपस्वी सन्तों को विषय सामग्रियाँ लाकर देते हैं। उनके संसर्ग से उनका त्याग वैराग्य नष्ट हो गया और वे संसारी पुरुषों की भाँति बन गये। इसलिये त्यागी-वैरागी पुरुषों के लिये निस्संगता ही मुक्ति का द्वार बताया है। सब दोष सङ्ग से ही उत्पन्न होते हैं। जिसने निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर वैराग्य को धारण किया है, उसके आश्रय श्री हरि हैं, वह अहङ्कार के वशीभूत होगा, तो पतित हो जायगा और जो गृहस्थी है उनका आश्रय धर्म है। जो गृही धर्म को छोड़कर अधर्म को अपनायेगा उसका पतन अवश्यम्भावी है। इस विषय में आपको मैं एक प्राचीन बड़ा मनोरञ्जक इतिहास सुनाता हूँ। उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।

यह बहुत प्राचीन आदि त्रेतायुग की बात है, तब तक शंकर जी ने अपने तीसरे नेत्र से कामदेव को भस्म नहीं किया था। उस समय कामदेव सशरीर होकर अपने ईख के धनुष पर फूलों के बाण चढ़ाये, स्वेच्छा पूर्वक इधर-उधर ऋषियों के आश्रमों में घूमा करते थे। जिस ऋषि को तपस्या में प्रमत्त देखते, उसे किसी बहाने से शिक्षा देकर पुनः तप में लगाते। वे सावधान और प्रमत्त मुनियों के यहाँ भी जाते। किन्तु उनसे कुछ बोलते नहीं थे। पेड़ की आड़ में छिपकर उनकी गति विधि देखकर लौट आते।

एक बड़े भारी तपस्वी थे, वे सदा उग्र तप में लगे रहते। वे ऐसी तपस्या करते, कि देव, गन्धर्व अन्य ऋषि मुनि सभी चकित रह गये। वे न अन्न खाते, न फूल, फल, मूलों का ही आहार करते आठ पहर में एक बार समीप के ही वृक्षों में चले जाते। पुराने वृक्षों के सूखे बल्कल में मुँह मारते। एक बार मुँह में जो

आ जाता उसी सूखी लकड़ी को चबाकर नदी से जल पीकर पुनः तपस्या में लग जाते। इस प्रकार तपस्या करते उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया। मुनि का आसन पृथ्वी को छोड़कर अधर में स्थित होने लग गया। अब ऋषि के मन में अहङ्कार ने प्रवेश किया। वृक्ष भी डर गये। जिधर वे जाते वृक्ष अपने वल्कल स्वयं ही निकालकर रख देते। इससे मुनि का अहङ्कार और भी बढ़ा। देखो, तप का प्रभाव, वृक्ष भी मेरी आज्ञा में चलने लगे। क्यों न हो, मेरा तप ही ऐसा है। दूसरा कौन-सा मुनि ऐसा उग्र तप कर सकता है?

एक दिन घूमते फिरते कुसुमायुध मन्मथ उनके आश्रम पर आ निकले। मुनि को देखते ही ताड़ गये, इनके हृदय तो मेरे मंत्री अहङ्कार ने आसन जमा लिया है। मुनि को कुछ प्रबोध करना चाहिये, अतः वे अपना धनुष तानकर मुनि के आश्रम के द्वार पर खड़े हो गये। मुनि जब वल्कल खाने को बाहर निकले—तो उन्होंने देखा, एक अत्यन्त ही सुन्दर पुरुष धनुष पर बाण साधे उनके रास्ते को रोके खड़ा है। मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह मूर्ख मेरे तप-तेज को बिना जाने ही मेरा अपमान कर रहा है। अतः उसे डाँटते हुए बोले—"क्यों रे, तू कौन है? क्यों मेरा अपमान कर रहा है? मुझे देखकर भी तू रास्ता नहीं छोड़ता? क्या तुझे मेरे तप-तेज के प्रभाव का पता नहीं?"

नम्रता से कामदेव ने कहा—"भगवन्! मेरा नाम मन्मथ है, कामदेव भी मुझे लोग कहते हैं। फूलों के बाण होने के कारण कुसुमायुध भी मेरा एक नाम है, मुझे आपके तेज और तप का पता है।"

मुनि ने उसे घुड़कते हुए पूछा—"कौन, कामदेव?"

मन्मथ बोले—"महाराज! वही कामदेव जो अच्छे-अच्छे

तपस्वियों के मुँह में लगाम डालकर उन्हें घोड़े की तरह घुमाता है। नाक में नकेल डालकर इच्छा पूर्वक नचाता है।"

मुनि अहङ्कार के साथ उसे डाटते हुए बोले—"चल हट, आया कहीं का लगाम डालकर घुमाने वाला! भाग यहाँ से! किन्हीं साधारण तपस्वियों की नाक में नकेल डाली होगी। यहाँ तेरी दाल नहीं गलने की, यहाँ वे फल नहीं जिसे सियार खा जायँ। मेरे तप के प्रभाव को जानता नहीं। कहे तो तुझे अभी भस्म कर डालूँ। अपना कल्याण चाहता हो, तो यहाँ से तुरन्त चला जा।"

कामदेव ने उपेक्षा के भाव से कहा—"अच्छी बात है महा राज! मैं जाता हूँ, समय बता देगा, आपकी बात सत्य है या मेरी। देखेंगे, आपकी तपस्या।"

तमक कर मुनि ने कहा—"जा, देख लेना। जो तुझे करना हो सो करना। तेरे जैसे ३६० मन्मथ यहाँ जूतियाँ चटकाते घूमते रहते हैं। तू अपनी करनी में कसर मत करना।"

कामदेव चले गये, ऋषि पूर्ववत् तपस्या में तल्लीन हो गये। किन्तु अहंकार ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया—"देखो, मैंने कामदेव को भी कैसा डाट दिया। अपना-सा मुँह लिये चला गया। मेरी बात सुनकर कैसा सिर पर पैर रखकर लैंया-पैंया भाग गया।" कालान्तर में बात पुरानी पड़ गई। मुनि उसी प्रकार वृक्षों के समीप जाते, सूखी छाल में मुँह मारते, उसी छाल को चबाकर सन्तोष कर लेते। एक दिन उन्होंने देखा छाल तो बड़ी कोमल है, चिकनी है, मुँह मारा तो मुँह में बहुत-सा गुलगुला मीठा मीठा गरम-गरम पिंड-सा भर गया। जिह्वा को बड़ा सुख हुआ। मुनि भौचक्के से रह गये। यह कैसी छाल! आज तो यह चबानी भी नहीं पड़ी। सट्ट से गले के नीचे उतर गई, कैसी मधुर, कैसी चिकनी, कैसी गरमागरम थी। मालूम होता है,

मेरी तपस्या से डरकर वृक्षों ने ऐसी सुन्दर छाल बनाकर देनी आरम्भ कर दी है। चित्त में प्रसन्नता भी हुई, जिह्वा की लालसा भी बढ़ी। एक जगह दो तीन बार मुख मारा। थोड़े दिनों में मुनि का एक बार मुँह मारने का नियम भङ्ग हो गया। स्वाद के कारण मुनि जितनी बार इच्छा होती; मुँह मारते और उस मधुरातिमधुर गुलगुले लुचलुचे गरमागरम पदार्थ को भर पेट खाते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! काम को बढ़ाने वाली यह स्वादेन्द्रिय है। चाहे सब इन्द्रियों को वश में क्यों न कर लिया हो, यदि जिह्वा इन्द्रिय को वश नहीं किया, स्वाद को नहीं जीता, तो मानो कुछ नहीं किया और जिसने स्वादेन्द्रिय पर विजय पा ली, उसने सबको विजय कर लिया। रसना का जीतना ही मोक्ष मार्ग पा लेना है। जैसे मछली रसना के ही वश में होकर जाल में फँस जाती है, वैसे ही मनुष्य जिह्वालोलुपता के कारण विषयों में फँस जाता है। उस पौष्टिक पदार्थ के नित्यप्रति अधिक पा लेने से मुनि की इन्द्रियों में चंचलता आ गई, आलस्य और प्रमाद ने भी शनैः-शनैः मुनि के शरीर में प्रवेश किया। अब भोजन के पश्चात् कुछ विश्राम को भी समय निकाला जाने लगा। विश्राम करते-करते मनीराम इधर-उधर की ऊहापोह करने लगे। देखो, ये वृक्ष कैसा सुन्दर पदार्थ मुझे देने लगे हैं। शरीर भी पहिले से मोटा हो गया है। बल भी बढ़ गया है। आँखों में भी तेज आ गया है। मुनि इसी प्रकार की बातें सोचते रहते।

एक दिन वे वृक्षों के समीप गये, तो क्या देखते हैं एक षोडश वर्षीया युवती उन वृक्षों पर कुछ लगा रही है। मुनि की पैछर पाते ही, वह शीघ्रता से अपने वस्त्रों को सम्हालती हुई भाग गई और समीप के वृक्षों के झुरमुट में जाकर खड़ी हो गई। अब तो मुनि को सन्देह हुआ। यह वृक्ष छाल नहीं देते। यह तो कोई स्त्री गरमागरम मोहनभोग बनाकर वृक्षों पर लपेट जाती है। मन में

उठा, इसे खाना चाहिये या नहीं। किन्तु जिह्वा उसके स्वाद में फँस चुकी थी, मन में तो उसका स्वाद बस चुका था, विवेक को तो अहंकार ने दवा ही लिया था, नियम भङ्ग करने से साहस तो मुनि को छोड़ ही चुका था। वे मन को समझाते हुए बोले—'मैं किसी से कहने तो जाता नहीं, मुझे यह वस्तु दो। यदि अपने आप बिना माँगे कोई पदार्थ आता है, तो उसके ग्रहण करने में कोई हानि नहीं।' आज का मोहनभोग अत्यधिक स्वादिष्ट था, और दिनों की अपेक्षा गरम भी अधिक था, मुनि को आज सब दिनों से अधिक आनन्द आया। इसलिये सोचा—जब खाना ही है, तो देर करके आने से क्या लाभ? शीघ्र आ जाया करेंगे; जिससे ठण्डा भी न हो, स्वाद भी आ जाय और शीघ्र निवट कर चले भी जायँ। विश्राम भी कुछ अधिक हो जाया करेगा। ऐसा सोचकर दूसरे दिन से वे समय से कुछ पूर्व आने लगे।

अब वे नित्य देखते, वह लड़की आती है और इन्हें देखते ही भाग जाती है। एक दिन वह लगाने को उद्यत ही थी, कि मुनि पहुँच गये। लड़की पात्र को ही छोड़कर भाग गई। अब मुनि चक्कर में पड़े। उन्होंने पहिले पेड़ की छाल में मुँह मारा, मुँह में सूखी छाल आ गई, किन्तु मुनि से वह चबाई न गई। दाँतों ने जवाब दे दिया, जिह्वा ने निगलने से मना कर दिया, मन ने सत्याग्रह ठान दिया, ऋषि को सबकी सम्मति के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। सोचने लगे—जैसा ही वृक्ष से खाया वैसा ही पात्र में से उठाकर खाया। लाओ, इस पेट को तो भरना ही है उन्होंने सुवर्ण का पात्र उठा लिया। आज और दिनों से भी अधिक स्वाद आया। अब तो मुनि का मन उस लाने वाली के विषय में विचार करने लगा।

यह कौन है, क्यों यह पेड़ों में लगा जाती है। मुझमें इसकी बड़ी श्रद्धा है, कैसा शील-सङ्कोच है। देखते ही भाग जाती है,

कल इससे पूछूँगा कौन है, जो इतना उपकार करती है उसका परिचय पाना आवश्यक है। नहीं तो हम कृतघ्नी कहलावेंगे। अपने प्रति जिसका इतना अनुराग हो, उसकी इस प्रकार उपेक्षा उचित नहीं।"

दूसरे दिन मुनि पहुँचे, तो वह आई ही नहीं थी। बड़ी देर तक मुनि एक वृक्ष की ओट में खड़े रहे। कुछ काल के अनन्तर वह आई, ज्यों ही पात्र रखकर उसने वृक्षों में लगाने का उपक्रम किया, त्यों ही मुनि झट से उसके सम्मुख खड़े हो गये। मुनि को सहसा अपने सम्मुख खड़े देखकर वह अपना कर्तव्य स्थिर न कर सकी। हक्की-बक्की होकर वह अति शीघ्र पात्र रखकर भागने को उद्यत हुई। तब मुनि ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—"डरने की कोई आवश्यकता नहीं। भागने का कोई काम नहीं। सुनो, तुमसे मुझे एक बात पूछनी है।"

अत्यन्त लजाती हुई, अपने ही शरीर में सिमिटती हुई, वस्त्रों को सम्हालकर, नीची दृष्टि करके, वह मुनि से दूर जाकर खड़ी हो गई। मोहनभोग का पात्र उसके हाथ में ही था। मुनि घबड़ाये कि कहीं इसे भी लेकर यह न भाग जाय, नहीं तो आज बिना बात की एकादशी हो जायगी।

हाथ के संकेत से बुलाते हुए मुनि कहने लगे—"तुम डरो मत। यह मोहनभोग मेरे हाथ पर दे दो। मैं कोई बाघ, सिंह तो हूँ नहीं, जो इतना डरती हो?"

मुनि की सान्त्वना पाकर धीरे-धीरे लड़की समीप आ गई और पात्र मुनि के सम्मुख रखकर दूर खड़ी हो गई। मुनि पात्र उठाकर खाने लगे और खाते-खाते ही बोले—"तुम कहाँ रहती हो? तुम्हारा स्थान यहाँ से कितनी दूर है? कितनी देर का मार्ग है? तुम अकेली कैसे आती हो? तुम देवकन्या हो या गन्धर्व, यक्ष, मुनि या किसी अप्सरा की कन्या हो?"

लड़की ने इन बातों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। केवल हाथ के संकेत से अपने आश्रम की ओर संकेत कर दिया। मुनि भी प्रसाद पाकर चले गये।

अब तो मुनि ध्यान-ध्यान सब भूल-भाल गये। उसी के सम्बन्ध में सोचने लगे। वे ज्यों-ज्यों उसे भुलाना चाहते थे, त्यों-

ही-त्यों उसकी स्मृति अधिकाधिक उन्हें विकल बनाने लगी। दूसरे दिन उन्होंने साहस करके उससे कहा—"देखो, जब तक तुम मुझे अपना परिचय न दोगी, तब तक मैं तुम्हारे इस प्रसाद को नहीं पाऊँगा।"

लजाते हुए युवती ने कहा—"महाराज ! मुझे आपसे डर लगता है ?

मुनि बड़े स्नेह से बोले—"किस बात का डर लगता है ? मैं तुम्हारी ही तरह दो पैर का आदमी हूँ। आदमी को आदमी से क्या डर ?"

लड़की ने कहा—"महाराज ! आप तपस्वी हैं, मुझसे कोई अनुचित कार्य हो जाय या आपका कोई अपराध हो जाय, आप क्रुद्ध होकर शाप दे दें, तो मेरा तो सर्वनाश हो जायगा ?"

खिलखिला कर हँसते हुए मुनि ने कहा—"मान लो दाँत, जिह्वा को भूल से काट भी ले, तो कोई दाँत को तोड़ थोड़े ही देता है। मुनि तो सदा आश्रितों पर कृपा करते हैं। तुम इस बात को मन से निकाल दो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, तुम कुछ भी कहोगी, मैं कभी भी उसको बुरा न मानूँगा।"

इस पर युवती का साहस बढ़ा। उसने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! यदि यही बात है, तो आप अब जो भी पूछेंगे उसका मैं उत्तर दूँगी।"

मुनि ने पूछा—"तुम कौन हो ? कहाँ रहती हो, क्यों मेरी ऐसी सेवा करती हो ?"

लड़की बोली—"मैं एक राजर्षि की कन्या हूँ। माता के साथ मैं भी वन में आई थी। मेरे पिता थोड़े दिन हुए स्वर्गगामी हो गये हैं। अब मैं और मेरी माताजी दो ही हैं। एक वृद्धा तापसी हमारी देख-रेख करती है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर हमारा आश्रम है।"

मुनि ने पूछा—"तेरा विवाह हुआ कि नहीं ?"

लजाती हुई लड़की ने निषेध सूचक सिर हिला दिया, मुँह से कुछ भी नहीं कहा। देर हो गई थी, उसने कहा- "मेरी माँ मुझसे अप्रसन्न होगी, अब मुझे आज्ञा दीजिये। कल मैं शीघ्र ही आऊँगी। आप भी तनिक पहिले ही पधारें।" इतना कहकर वह पात्र को छोड़कर, बिना मुनि के उत्तर की प्रतीक्षा किये ही चली गई।

मुनि ने सोचा—"पात्र को यहीं छोड़ दूँ, तो कोई उठा ले जायगा। आश्रम को ही लेता चलूँ। पात्र लेकर आश्रम में आये। आज उनका मन उदास हो रहा था। भजन पूजन में लगाने पर भी मन नहीं लगता था। जैसे-तैसे समय कटा, प्रातःकाल हुआ पात्र लेकर वे फिर वहीं पहुँचे। प्रतीक्षा की घड़ियाँ कितनी कठिनता से कटती हैं, इसे भुक्तभोगी के अतिरिक्त दूसरा कोई अनुभव कर ही नहीं सकता।

नियत समय से पूर्व ही लड़की आ गई। आज उसने संकोच नहीं किया। मुनि को पात्र में परोसने लगी। मुनि प्रसाद पाने लगे। प्रसाद पाते-पाते उन्होंने अपने मन के भावों को व्यक्त करना आरम्भ किया। मुनि बोले—"मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ। तुम बुरा तो न मानोगी ?"

मुनि के कहने के ढङ्ग से ही लड़की समझ गई। वह बोली—"महाराज! बुरा मानने वाली बात पर तो बुरा माना ही जाता है। यदि आपको शंका है, तो ऐसी बात कहें ही क्यों, जिससे मुझे बुरा लगे और आपको दुःख हो ?"

मुनि कुछ विवशता के स्वर में बोले—"नहीं, ऐसी कोई बुरा मानने वाली बात तो है नहीं। अच्छा, मान लेना बुरा ही। परन्तु मैं तो कहूँगा ही, मुँह पर आई बात को रोकना ठीक नहीं ?"

लड़की ने व्यंग से कहा—"ठीक है, तो कहिये। फिर मुझसे क्या पूछते हैं?"

मुनि कुछ रुक-रुक कर बोले—"मैं यह कहता हूँ, कि हमारा तुम्हारा आपस में विवाह हो जाय तो क्या हानि?"...

लड़की ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वह लजाती हुई नीचे देखने लगी। तब मुनि ने प्रसाद पाना बन्द कर दिया और अत्यन्त उत्सुकता से कहने लगे—"देखो, संशय वाली बात ठीक नहीं। यहाँ कोई और तो है नहीं। जो तुम्हारे मन की बात हो, उसे बिना सङ्कोच के कह दो। आज निर्णय हो जाना चाहिये।" इतना सुनकर भी लड़की ने कुछ नहीं कहा। जब कई बार मुनि ने कहा, तो उसने प्रेम कोप से घुड़कते हुए कहा—"महाराज! आपको ऐसी बातें कहने में लज्जा भी नहीं लगती?"

हँसते हुए मुनि ने कहा—"इसमें लज्जा की कौन-सी बात है? स्त्री और पुरुषों का ही तो विवाह होता है। तुम अविवाहिता कुमारी हो, मैं भी अविवाहित हूँ। कोई अधर्म की बात तो है नहीं।"

लड़की ने उसी स्वर में कहा—"आप त्यागी, महात्मा मुनि होकर ऐसी बातें करते हैं?"

मुनि बोले—"क्या महात्मा मुनियों का विवाह नहीं होता? मरीच, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ सभी तो विवाहित हैं। सभी के बाल-बच्चे हैं।"

लड़की ने कहा—"वे तो प्रवृत्ति मार्ग के मुनि हैं, आपने तो निवृत्ति मार्ग की दीक्षा ले रखी है।"

मुनि बोले—"निवृत्ति मार्ग का कोई ठेका थोड़े ही है। जब तक निभा निभाया, न निभा तो विवाह करके प्रवृत्ति में आ गये। बोलो, क्या कहती हो?"

लड़की ने कहा—"नहीं महाराज! यह नहीं हो सकता?"

मुनि दृढ़ता से बोले—"क्या नहीं हो सकता ? यह विवाह, या हमारा तुम्हारा यह सम्बन्ध ठीक नहीं है।"

लड़की ने कहा—"अब मैं क्या बताऊँ, आप ही सोचें।"

मुनि को कुछ आशा हुई, बोले—"या तुमको मैं पसन्द नहीं हूँ ?"

लड़की ने कहा—"हाँ!" और इतना कहकर वह खिलखिला कर हँस पड़ी। उसके हास्य में विचित्र मोहकता-सी थी।

मुनि बोले—"बताओ न, क्यों पसन्द नहीं हूँ ?" लड़की अपनी हँसी रोकते-रोकते बोली—"महाराज ! आपके शरीर का यह भैंसा जैसा कठोर काला-काला चर्म, ये रूखी-रूखी जटायें, यह बकरे जैसी दाढ़ी, मूँज का अगड़बन्ध और सम्पूर्ण शरीर में लगी राख, ये सब बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।" इतना कहते-कहते बहुत रोकने पर भी उसकी हँसी फूट पड़ी।

मुनि बोले—"देखो, ये सब तो तपस्या के चिह्न हैं, जब विवाह करेंगे, तो ऐसे थोड़े ही रहेंगे। इन जटा दाढ़ियों को मुड़वा देंगे, ठाट-बाट से रहा करेंगे। बताओ, क्या कहती हो ?"

उपेक्षा के स्वर में लड़की ने कहा—"महाराज ! मुझसे ऐसी बातें मत करो। मैं क्या जानूँ ? लड़की अपना विवाह करने में स्वतन्त्र थोड़े ही होती है ? मेरी माँ जिसके साथ मुझे कर देगी, उसी के साथ मुझे जाना पड़ेगा।"

मुनि बोले—"तुम, अपनी माता से ही पूछना।" घुड़क कर लड़की ने कहा—"महाराज ! कैसी बातें कर रहे हैं आप ? लड़कियाँ अपने आप माता-पिता से अपने विवाह की बात कैसे कह सकती हैं ?"

मुनि बोले—"अच्छा तो हम ही चलें ?" हँसते-हँसते लड़की बोली—"न, बाबा ! आप मत चलना, आपको देखकर मेरी माँ बिदक जायगी।"

मुनि खिसियाने से बोले—"तुम कहोगी नहीं, मुझे देखकर तुम्हारी माँ बिदक जायगी, तो काम कैसे चलेगा। मुझे बड़ी अशान्ति रहती है। इसका एक निर्णय हो जाय, तो मन स्थिर हो। या इधर ही हो या उधर ही। बीच में लटके रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने कहा—"अच्छी बात है, कभी अवसर आने पर मैं पूछूँगी।"

मुनि अपनी बातों पर बल देते हुए बोले—"अवसर नहीं, मुझे कल उत्तर मिल जाना चाहिये।"

प्रयत्न करूँगी—"इतना कहते-कहते वह पात्र उठाकर जल्दी से भाग गई। मुनि देखते ही रह गये।

जैसे-तैसे मुनि ने जागकर वह सम्पूर्ण रात्रि काटी। अब कहाँ का भजन, कहाँ की पूजा? उनके सिर पर तो भूतिनी सवार हो गई थी। प्रातःकाल उठकर उसी ओर चल दिये जिधर उसका आश्रम था। कई आश्रम थे, मुनि निर्णय ही न कर सके कि कौन-सा उसका आश्रम है। चार-पाँच बार गये आये। साहस करके जाते, फिर कुछ सोचकर लौट आते। इतने ही में वह आती हुई दिखाई दी। मुनि पालथी मारकर बैठ गये। उसने आकर मुनि को मोहनभोग परोसा। पहिला ग्रास मुख में डालते ही मुनि ने कहा—"तुमने अपनी माता से पूछा था?

लड़की चुप रही। मुनि बड़े व्यग्र हुए और दुखी होकर बोले—"देखो, ऐसी हँसी अच्छी नहीं, किसी को आशा में लटकाये रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने मन्द-मन्द मुसकुराते हुए कहा—"मैंने आपको कब आशा दी थी? आशा निराशा तो आपने अपने आप ही पैदा कर ली है।"

मुनि दृढ़ता से बोले—"क्या नहीं हो सकता ? यह विवाह, या हमारा तुम्हारा यह सम्बन्ध ठीक नहीं है ।"

लड़की ने कहा—"अब मैं क्या बताऊँ, आप ही सोचें।"

मुनि को कुछ आशा हुई, बोले—"या तुमको मैं पसन्द नहीं हूँ ?"

लड़की ने कहा—"हाँ !" और इतना कहकर वह खिलखिला कर हँस पड़ी। उसके हास्य में विचित्र मोहकता-सी थी।

मुनि बोले—"बताओ न, क्यों पसन्द नहीं हूँ ?" लड़की अपनी हँसी रोकते-रोकते बोली—"महाराज ! आपके शरीर का यह भैंसा जैसा कठोर काला-काला चर्म, ये रूखी-रूखी जटायें, यह बकरे जैसी दाढ़ी, मूँज का अगड़बन्ध और सम्पूर्ण शरीर में लगी राख, ये सब बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं।" इतना कहते-कहते बहुत रोकने पर भी उसकी हँसी फूट पड़ी।

मुनि बोले—"देखो, ये सब तो तपस्या के चिह्न हैं, जब विवाह करेंगे, तो ऐसे थोड़े ही रहेंगे। इन जटा दाढ़ियों को मुड़वा देंगे, ठाट-बाट से रहा करेंगे। बताओ, क्या कहती हो ?"

उपेक्षा के स्वर में लड़की ने कहा—"महाराज ! मुझसे ऐसी बातें मत करो। मैं क्या जानूँ ? लड़की अपना विवाह करने में स्वतन्त्र थोड़े ही होती है ? मेरी माँ जिसके साथ मुझे कर देगी, उसी के साथ मुझे जाना पड़ेगा।"

मुनि बोले—"तुम, अपनी माता से ही पूछना।" घुड़क कर लड़की ने कहा—"महाराज ! कैसी बातें कर रहे हैं आप ? लड़कियाँ अपने आप माता-पिता से अपने विवाह की बात कैसे कह सकती हैं ?"

मुनि बोले—"अच्छा तो हम ही चलें ?" हँसते-हँसते लड़की बोली—"न, बाबा ! आप मत चलना, आपको देखकर मेरी माँ बिदक जायगी।"

मुनि खिसियाने से बोले—"तुम कहोगी नहीं, मुझे देखकर तुम्हारी माँ बिदक जायगी, तो काम कैसे चलेगा। मुझे बड़ी अशान्ति रहती है। इसका एक निर्णय हो जाय, तो मन स्थिर हो। या इधर ही हो या उधर ही। बीच में लटके रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने कहा—"अच्छी बात है, कभी अवसर आने पर मैं पूछूँगी।"

मुनि अपनी बातों पर बल देते हुए बोले—"अवसर नहीं, मुझे कल उत्तर मिल जाना चाहिये।"

प्रयत्न करूँगी—"इतना कहते-कहते वह पात्र उठाकर जल्दी से भाग गई। मुनि देखते ही रह गये।

जैसे-तैसे मुनि ने जागकर वह सम्पूर्ण रात्रि काटी। अब कहाँ का भजन, कहाँ की पूजा? उनके सिर पर तो भूतिनी सवार हो गई थी। प्रातःकाल उठकर उसी ओर चल दिये जिधर उसका आश्रम था। कई आश्रम थे, मुनि निर्णय ही न कर सके कि कौन-सा उसका आश्रम है। चार-पाँच बार गये आये। साहस करके जाते, फिर कुछ सोचकर लौट आते। इतने ही में वह आती हुई दिखाई दी। मुनि पालथी मारकर बैठ गये। उसने आकर मुनि को मोहनभोग परोसा। पहिला ग्रास मुख में डालते ही मुनि ने कहा—"तुमने अपनी माता से पूछा था?

लड़की चुप रही। मुनि बड़े व्यग्र हुए और दुखी होकर बोले—"देखो, ऐसी हँसी अच्छी नहीं, किसी को आशा में लटकाये रहना ठीक नहीं।"

लड़की ने मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कहा—"मैंने आपको कब आशा दी थी? आशा निराशा तो आपने अपने आप ही पैदा कर ली है।"

मुनि क्षुब्ध होकर बोले—"मैं तुमसे ज्ञान-ध्यान सुनना नहीं चाहता। यह बताओ, तुमने माताजी से पूछा या नहीं ?"

लड़की ने सिर हिलाते हुए कहा—"हाँ पूछा था।" अत्यन्त ही उत्सुकता प्रकट करते हुए व्यग्रता के साथ मुनि बोले—"तब उन्होंने क्या उत्तर दिया ?"

लड़की बोली—"माँ ने कहा—"अच्छी बात है, कोई हानि नहीं, किन्तु उन्हें हमारे यहाँ घरजमाई बनके रहना पड़ेगा।"

मुनि अपनी प्रसन्नता को रोकते हुए बोले—"घरजमाई बनने में क्या-क्या करना पड़ता है ?"

हँसते हुए लड़की ने कहा—"पति को पत्नी का जमूड़ा बनना पड़ता है।"

मुनि बोले—"जमूड़ा क्या होता है ?"

लड़की ने हँसते-हँसते कहा—"बाजीगर एक लड़के को अपने खेल में सामने बैठा लेता है। उससे कहता है, 'उठ रे जमूड़ा, बैठ रे जमूड़ा, नाच रे जमूड़ा, गा रे जमूड़ा।' इस प्रकार बाजीगर जो कहता है, उसी के संकेत पर उसे नाचना पड़ता है। इसी प्रकार पति को सदा स्त्री का रुख देखकर ही व्यवहार करना होता है।"

हँसते हुए मुनि बोले—"मैं तो विवाह के पहिले ही जमूड़ा बन चुका हूँ। चलो चलें, अब देर करने का काम नहीं। आज ही शुभ मुहूर्त है। शुभ कार्य को शीघ्र कर डालना चाहिये। आज ही हमारा तुम्हारा धर्म को साक्षी देकर बंधबन्धन हो जाये।" इतना कहकर मुनि बिना खाये ही उठ पड़े। आगे-आगे वह देवी चल रही थी, पीछे-पीछे देवताजी प्रसन्नता में भरे हुए जा रहे थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब घर को पीठ देकर मुनि निकले थे, तब तो भगवान् को आगे करके चले थे। आज जब

कुटी को छोड़कर चले तो माया को आगे करके उसके पीछे-पीछे चलने लगे। इसी का नाम है माया का चक्कर।"

इस पर शौनकजी बोले—"सूतजी! आपने भी क्या माया की कथा छेड़ दी, कोई भगवान् की कथा सुनाते।"

यह सुनकर चौंककर सूतजी बोले—"अब देखिये, महाराज! मुझे दोष देते हैं। आप ही तो प्रश्न करते हैं। जब मैं उत्तर देता हूँ तो कहते हैं, माया की कथा न कहें। पुराणों में तो ऐसे-ऐसे अनेकों उपाख्यान हैं। उनका तात्पर्य शिक्षा देने में है। इन दृष्टान्तों से शिक्षा मिलती है। इनके कथन का तात्पर्य विषयों से निवृत्ति कराने में है, न कि माया की प्रशंसा करने में। यदि आप को रुचिकर न हो, मैं इसे छोड़ दूँ।"

शौनकजी बोले—"नहीं, सूतजी! मेरा यह अभिप्राय नहीं। यह तो वैराग्यवर्धिनी ही कथा है किन्तु हम तो शुद्ध अवतार चरित्र के श्रोता हैं। हाँ, तो इस कथा को तो पूरी कर ही दें। उन महात्मा का क्या हुआ? फँस गये क्या माया के चक्कर में?"

सूतजी बोले—"महाराज! हुआ क्या? यह चक्कर ही ऐसा है, कि भगवान् ही बचावें तो बच सकते हैं। हाँ, तो वह लड़की आश्रम पर पहुँची। उसकी माता ने मुनि का स्वागत सत्कार किया। मुनि को तो विवाह की चटपटी लगी थी, जाते ही उन्होंने कहा—"अब मुझे क्या करना होगा? ये दाढ़ी, जटायें, मुड़ानी होंगी? कौन मूड़ेगा?"

लड़की ने कहा—"अभी दाढ़ी, जटा मुड़ाने की आवश्यकता नहीं। विवाह के पूर्व हमारे यहाँ एक कुलाचार होता है, पहिले तो उसे करना होगा।"

मुनि बोले—"उसमें क्या करना होता है?"

लड़की ने कहा—"विवाह के पूर्व दुलहा, दुलहिन दोनों मिलकर सिल पर कोयले घिसते हैं, उस घिसे हुए कोयले से

दुलहिन दूल्हा के मुख को पोतती है। फिर दुलहा को घोड़ा बनना पड़ता है, दुलहिन उसके मुँह में लगाम डालकर उसके ऊपर सवार होती है, रेशमी दुपट्टा के कोड़े से उसे हाँकती है। दुलहा घोड़े की तरह-हाथों को पैर की तरह रखकर-हिनहिनाता हुआ चलता है। इसके अनन्तर विवाह होता है।"

मुनि बच्चों की तरह बोले—"फिर वह मुख की कालिख धुल जाती है न ?"

लड़की बोली—"धुल क्यों नहीं जाती। सदा काला ही मुख थोड़ा ही रहता है। वह तो उसी समय का नेग है।"

मुनि बोले—"वहाँ और भी कोई रहता है क्या ?"

लड़की बोली—"नहीं और कोई नहीं रहता। केवल दुलहा और दुलहिन ही दोनों रहते हैं।"

मुनि बोले—"तब तो कोई आपत्ति नहीं, इसे भी कर लो। देर का काम नहीं है।" तुरन्त तापसी एक सिल और कोयले उठा लाई। दोनों ने मिलकर कालिख तैयार की। मुनि ने बड़े चाव से अपना मुँह आगे कर दिया। लड़की ने उनके मुख पर कालिख पोत दी। मुँह में लगाम लगाई और उछलकर ऊपर सवार हो गई। मुनि तो उसे हर प्रकार से प्रसन्न करना चाहते थे। उसके स्पर्श से उनके रोंगटे खड़े हो गये और बड़े उल्लास के साथ घोड़े की तरह हिनहिनाते हुए इधर से उधर घूमने लगे। देवी जी भी लगाम खींचकर कोड़े मारतीं, इससे मुनि और भी पुलकित होते।

एक बार जोर से जो लगाम खींची, तो मुनि का मुख मुड़ गया। वे क्या देखते हैं—पीठ पर देवी तो है नहीं, धनुष-बाण धारण किये एक देवता सवार हैं और लगाम खींच रहे हैं। संभ्रम के साथ मुनि ने पूछा—"अरे, तू कौन है ? जो मेरी पीठ पर सवार है ?"

हँसकर देवताजी बोले—"बाबाजी महाराज, दंडौत! मैं वही हूँ जिसने बड़े-बड़े तपस्वियों के मुख में लगाम डालकर उन्हें घोड़े की तरह नचाया है।"

मुनि खड़े हो गये और खिसियाकर बोले—"अरे मैंने यहाँ

कामदेव ने कहा—"भगवन्! जो निरन्तर भगवत् कैंकर्य में लगा रहता है, उससे मैं बोलता भी नहीं। मैं तो अहङ्कारियों के गर्व को खर्व करता हूँ। जाइये, अहङ्कार छोड़कर भगवान् को ही सर्व कर्म समर्पण करके भजन कीजिये।" यह सुनकर मुनि चले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने प्रसंगानुसार काम की प्रबलता का आख्यान आपसे कहा। शिवजी ने इस काम को क्रोध करके भस्म तो कर डाला, किन्तु आशुतोष ही ठहरे। बिना शरीर के ही मनुष्यों के मन में व्याप्त होकर रहने का उसे वरदान हो गया। यह संकल्प द्वारा मनमें उत्पन्न होता है। जिस स्त्री या पुरुष के मनमें यह प्रकट होता है, उसकी समस्त इन्द्रियों को तथा मन को मथ डालता है। विवेक शून्य बना देता है। तभी तो पति के इतना समझाने पर भी दिति देवी ने उनकी बात नहीं मानी और उनका हठ पूर्वक वस्त्र पकड़ लिया। मुनियो! हृदय में राम-रम जाते हैं, तो कामदेव भग जाते हैं, जब कामदेव आ जाते हैं, तो राम रमतेराम हो जाते हैं। यह संसार युद्ध क्षेत्र है, सदा सद्गुणों का दुर्गुणों के साथ युद्ध होता रहता है। जो निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हुए उनको अपने शरीर रूपी रथ पर बिठाये रहते हैं, वे सदा विजयी होते हैं। जो भगवान् को भुला कर अपने अहंकार के बल पर लड़ते हैं, उनकी क्षण भर को विजय भले ही हो जाय, अन्त में पराजय ही होती है।"

इतना कहकर सूतजी चुप हो गये।

छप्पय

अहङ्कार अविवेक काम कूँ तुरत बुलावें।
नर नारिनि संमोह मान मद खींचि गिरावें॥
विद्या, जप, तप शास्त्र मौन व्रत सबहि भुलावें।
रहें न विरति विवेक कुसुम हिय में घँसि जावें॥
कृष्ण कथा कीर्तन सतत, होय काम आवे न तहँ।
जिनको मन मन्मथ मथ्यो, ते पुनि पावें शान्ति कहँ॥

—:—

दिति का पश्चात्ताप

[१३३]

स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १४ अ० ३० श्लोक)

छप्पय

कश्यप दितिकूँ ऊँच नीच सब विधि समझायो।
किन्तु काम वश भई, धर्ममत मन नहिँ भायो॥
होनहार अति प्रबल प्रजापति मनमहँ मानी।
विधि को यही विधान अवश्यम्भावी जानी॥
नारि विरोध अनिष्ट अति, तासु व्यथा मुनि ने हरी।
करिकें गर्भाधान तब, दिति इच्छा पूरी करी॥

गृहस्थी रूपी रथ के जूए में स्त्री पुरुष रूपी दो बैल जुते हुए हैं। और दोनों ही मिलकर सुपथ से इसे भगवान् की ओर खींचकर ले जा रहे हैं। दोनों मिलकर चलेंगे, तो रथ सुख पूर्वक चलेगा, दोनों को कष्ट न होगा और आनन्दपूर्वक अपने गन्तव्य मार्ग को पहुँच जायँगे। जहाँ दोनों में विरोध होगा, एक पूर्व को खींचेगा दूसरा पश्चिम को। एक आगे बढ़ जायगा

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! जब महामुनि कश्यप ने देखा इसका इस निषिद्ध कार्य में अत्यन्त ही आग्रह है, तो उन्होंने भाग्य विधाता की वन्दना की और उसके साथ एकान्त में गये।"

दूसरा कंधा डालकर खींचना बन्द कर देगा, तो दोनों को ही कष्ट होगा। रथ रुक जायगा और लक्ष्य से च्युत होकर बीच में ही अटक जायगा।

गृहस्थ में नित्य ही बात-बात पर विरोध, मतभेद होते हैं। साथ रहने से कलह होना स्वाभाविक ही है। बहुत से बर्तन एक स्थान में रखने पर प्रयत्न करने पर भी खटक जाते हैं, किन्तु यह खटका सदा बना रहे, तो कान ही फूट जायँ। खटका हुआ, क्षण भर में बन्द हो गया। इसी तरह मतभेद, कलह, विरोध होने स्वाभाविक ही नहीं कुछ अंशों में आवश्यक भी हैं। निरन्तर मीठा खाते-खाते बीच-बीच में कुछ कड़वा चरपरा भी चाहिये। करेला, हरी मिर्च, अदरक ये रुचि को बढ़ाते हैं। इसी तरह प्रेम की कलह से स्नेह और बढ़ता है, किन्तु यदि निरन्तर ही कड़वी, चरपरी चीजें खाते रहें तो भयंकर रोग उत्पन्न होकर शरीर को नष्ट कर देते हैं। मतभेद होने पर पति-पत्नी से अड़ रहा हो, तो ऐसी दशा में पत्नी को चुप हो जाना चाहिये। उसकी हाँ-में-हाँ मिला देनी चाहिये। जब दो चार दिन में उसका रोष शान्त हो जाय, तो नम्रतापूर्वक उसके दोषों को हँसते हुए समझा देना चाहिये। इसी प्रकार जब पत्नी का किसी बात पर अत्यन्त आग्रह हो और धर्म के सदाचार के बहुत विरुद्ध न हो, तो पति को उस समय विरोध को बढ़ाना न चाहिये। उसकी बात मान लेनी चाहिये। ऐसा करने से कोमलाङ्गी मृदु स्वभाव वाली नारी को पीछे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होता है। हाय, मैंने उनकी बात नहीं मानी। वे कह तो ठीक रहे थे। यह गृहस्थ रूपी रथ को खींचने की कुञ्जी है। यही सब सोचकर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! जब भगवान् कश्यप के बहुत समझाने पर भी दिति ने अपनी हठ न

छोड़ी, तो वे अपना कर्तव्य निश्चित करने के निमित्त क्षण भर के लिये मौन होकर सोचने लगे।"

मुनि ने सोचा—"यदि मैं इस समय इसकी बात नहीं मानता तो, पता नहीं यह क्या अनर्थ कर डाले। स्त्रियों का चित्त बड़ा चंचल होता है। चित्त तो सभी का चंचल ही होता है, किन्तु किसी में उसे रोकने का गाम्भीर्य होता है, कोई उसे रोक सकने में असमर्थ होते हैं। मालूम होता है, विधि का ऐसा ही विधान है। इसमें भी मंगलमय भगवान् की कोई क्रीड़ा छिपी है। आज तक जो सदा मेरी आज्ञा में चलती रही, आज उसका सहसा स्वभाव बदल जाना, अपनी बात पर दृढ़ता से अड़ जाना, यह अवश्यंभावी का ही कारण है। अच्छी बात है। जैसी भगवान् की इच्छा।"

ऐसा सोचकर मुनि एकान्त में गये और उन्होंने उसकी मनोकामना पूर्ण की। अमोघवीर्य की महर्षि ने उसी क्षण गर्भ में स्थापना की, पुनः स्नान किया, यज्ञशाला में बैठकर तीन आचमन किये और सायंकालीन सन्ध्या में तल्लीन हो गये।

इधर गर्भाधान होने के अनन्तर दिति का वेग शान्त हुआ। अब उसकी बुद्धि ठीक ठिकाने पर आई। उसे अपने ऊपर बड़ी ग्लानि आई—हाय! मैंने यह कैसा अनर्थकारी हठ की। अपने त्रैलोक्य वन्दित पति की आज्ञा का उल्लङ्घन किया। उनको अहंकार के वशीभूत होकर अवहेलना की! देखो, उस समय मेरी बुद्धि पर कैसे पत्थर पड़ गये? मैं कैसी विवेकहीना हो गई? अब पता नहीं मेरा कौन-सा अनिष्ट होगा? कहीं रुद्र भगवान् मेरे इस गर्भ को नष्ट न कर दें। इसी प्रकार अपने मन में दुखी होती हुई, पश्चात्ताप से अत्यन्त ही लज्जित होकर वह अपने पति के पास आयी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पाप हो जाने के पश्चात् उसका हृदय से पश्चात्ताप हो, उसको गुरुजनों से कह दे, क्षमा माँग ले, शास्त्रीय विधि से प्रायश्चित कर ले, तो बहुत से पाप तो इतने से ही नष्ट हो जाते हैं। बहुत से कम हो जाते हैं। पाप करने के पश्चात् जो मानसिक ताप होता है, उसी का नाम पश्चात्ताप है। जैसे अग्नि में सुवर्ण को तपाने से उसका मैल नष्ट होकर वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार हृदय से निष्कपट भाव से किया हुआ पश्चात्ताप मन को मलिनता को धोकर उसे स्वच्छ बना देता हैं।

दिति लज्जित होती हुई अग्निशाला में चुपचाप नीचा सिर किये हुए जा बैठी। मुनि सन्ध्या वन्दन प्राणायाम के अनन्तर मौन होकर शुद्ध, सनातन ज्योति स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करने लगे। अनन्तर उन्होंने जप किया। जप से जब वे निवृत्त हुए तब अत्यन्त ही लज्जित होकर लड़खड़ाती हुई वाणी से नीचा मुख किये हुए हाथ जोड़कर दिति ने अपने प्राणनाथ भगवान् कश्यप से प्रार्थना की—"प्रभो ! मुझसे बड़ा अपराध हो गया। आप तो दयालु है, मेरे प्राणेश्वर है, सर्वसमर्थ स्वामी हैं। मैं आपकी दासी किंकरी और चरणसेविका हूँ। आश्रितों से कोई अपराध बन भी जाता है, तो स्वामी उसे क्षमा कर देते हैं। मुझे मान दे-देकर आपने मेरा इतना साहस बढ़ा दिया, कि मैं आज इस दशा में पहुँच गई, कि आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने का भी साहस कर बैठी। मेरे इस अपराध से कुपित होकर आप मेरा कोई अनिष्ट करेंगे, इसकी तो मुझे कभी स्वप्न में भी आशा नहीं। किन्तु एक मुझे बड़ा भारी डर लग रहा है। मैं उस समय का स्मरण करके थर-थर काँप रही हूँ, मेरा हृदय फटा-जा रहा है।"

आचमन करके कश्यपजी ने कहा—"वह कौन-सा भय है ?

दिति ने कहा—"वह यही, कि आपने कहा था, कि यह रौद्री वेला है। रुद्र भगवान् कुपित होकर तेरे गर्भ के त्रिशूल से सैकड़ों टुकड़े कर देंगे। सो, हे नाथ! ऐसा न हो। वे कृपा के सागर आशुतोष भगवान् मुझ दीना पर अनुग्रह करें, मेरे गर्भ को हानि न पहुँचावें।"

कश्यप जी बोले—"उनके यहाँ दया मया का काम नहीं। उनका नाम ही रुद्र है। क्रोध से ही तो उनकी उत्पत्ति है। वे तुम्हारी इन बातों में आने वाले नहीं।"

दीनता से हाथ जोड़े हुए दिति बोली—"हाय! नाथ आप ऐसा न कहे। वे तो आशुतोष हैं, उनकी दुर्धर्षता दुखियों के दुःख दूर करने में ही हैं। वे सकाम पुरुषों की भी कामना पूर्ण करते हैं; वे फिर निष्कामों को मुक्ति प्रदान करना तो उनका कर्म ही है। वे तो ब्रह्मन्! औघड़ दानी हैं। जिसे सब त्याग देते हैं, उसे भगवान् भोलानाथ अपना लेते हैं। यद्यपि वे त्रिशूल, धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र धारण करते हैं, किन्तु क्रोध के लिये उनका प्रयोग नहीं करते, दुष्टों का दमन और शिष्टों के पालन के लिये ही उनके अस्त्रों का प्रयोग होता है। मैं उन रुद्र भगवान् के चरणों में बार-बार प्रणाम करके अपने अपराध के लिये क्षमा माँगती हूँ।"

कश्यप जी बोले—"अपराधी को दण्ड देना, यह तो धर्म है। तुमने उनका अपराध किया है, दण्ड भोगना पड़ेगा।"

तब दिति ने कहा—"प्रभो! देखिये, अपराध किससे नहीं होता? अज्ञों से सदा अपराध होते हैं। विज्ञ सदा उनके अपराधों को क्षमा करते आये हैं। फिर हम स्त्रियों को तो शास्त्रकारों ने अवध्य बताया है हम पर तो सदा क्रूर कर्म में ही निरत रहने वाले बहेलिया व्याधा भी कृपा करते हैं। वे भी हमारे प्राणों का सहसा हरण नहीं करते। फिर मेरी बहिन सती के पति सदा-शिव क्या मेरे इस अपराध को क्षमा न करेंगे? वे मेरे बहनोई

हैं। स्त्रियों के स्वभाव को जानते हैं। मैं उनके द्वार पर दया की भिखारिणी होकर खड़ी हूँ। वे दया के सागर मुझ पर प्रसन्न हों, मेरे ऊपर कृपा की दृष्टि करें।"

मैत्रेय जी कहते हैं—"विदुर जी! इस प्रकार अपनी सन्तान की शुभ कामना तथा इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति की इच्छा चाहने वाली दिति को दुःख से काँपती पश्चात्ताप से दुखी और शिवजी की विनय करते देखकर कश्यप जी रोष भरी दृष्टि से उसे देखते रहे। उन्होंने अपने शेष कृत्य को समाप्त किया और सायंकालीन नियम से निवृत्त होकर अपनी पत्नी दिति से दुःख के स्वर में कहने लगे—"देखो, तुम्हारा एक अपराध होता, तो क्षमा किया जा सकता था। तुम्हारे तो बहुत बड़े-बड़े चार अपराध हैं।"

दिति डर गयी और बोली—"भगवन्! चार अपराध कौन-कौन से हैं?"

कश्यप जी ने कहा—"देखो, पहिला अपराध तो यह है कि, उस समय तुम्हारा चित्त कामासक्त था। विशुद्ध पुत्र कामना से तुम्हारी प्रार्थना होती, तो वह क्षम्य हो सकती थी। किन्तु उस समय तुम्हारे चित्त में समस्त अनर्थों की जड़ मन्मथ विराज-मान था। तुम्हारा अपराध यह कि वह असमय था। सन्ध्या के समय सभी वृत्ति वाले अपनी-अपनी वृत्ति को छोड़कर भगवत् चिन्तन में लग जाते हैं। उस समय जो भूलकर भी लोक निन्दित कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। तीसरे तुमने मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन किया। पत्नी के लिये पति सबसे अधिक पूजनीय है। उसकी आज्ञा को न मानना सबसे बड़ा अपराध है। चौथे तुमने रुद्र आदि देवताओं का भी अनादर किया है। मेरे बार-बार समझाने पर भी तुमने भगवान् भूतनाथ के गणों का सम्मान नहीं किया। ये चार ऐसे अपराध हैं, जिनका

फल अवश्य भोगना पड़ेगा। अतः तुम्हारे दो बड़े क्रूरकर्मा पुत्र होंगे।"

दिति तो बड़ी भयभीत हुई और बोली—"भगवान् शूलपाणि मेरे गर्भ को नाश तो न करेंगे ?"

कश्यप जी ने कहा—"मेरा वीर्य अमोघ है। वह कभी भी किसी भी दशा में, कहीं भी रहेगा, वहीं फलवान् होगा। इसलिये गर्भ का नाश तो न होगा। किन्तु तुम्हारे पुत्र सुपुत्र न होंगे। वे अमङ्गलमय, अधम, नीच और जनता के द्वेषी होंगे।"

दिति बोली—"हाय ! महाराज, ऐसा क्यों होगा ? वे क्या-क्या पाप करेंगे ?"

कश्यप जी बोले—"देखो, बात यह है, तुमने मुझे असन्तुष्ट करके, क्रोध उत्पन्न कराके, मेरी इच्छा न रहने पर भी गर्भाधान कराया है। इसीलिये तो वे क्रोधी और देवता ब्राह्मणों के द्वेषी होंगे। लोकपालों के भी परम पूजनीय भगवान् शंकर का तुमने सम्मान नहीं किया, इसलिये ये सब लोकपालों और प्रजाओं को पीड़ा पहुँचाने वाले पापी होंगे। आसुरी वेला में भूत, प्रेत, पिशाचों के समय में गर्भाधान हुआ, इसलिये आसुरी प्राकृत के दैत्य होंगे। वे निरपराध दीन प्राणियों को सदा दुःख दिया करेंगे तुम्हारे मन में अत्यन्त काम का वेग था, इसलिये इस दोष से वे बड़े कामी होंगे। मेरा अमोघ वीर्य था, रौद्र समय था। मुझे भी क्रोध हो रहा था, इसलिये वे इतने शूर वीर पराक्रमी होंगे, कि संसार में उनके समान दूसरा कोई भी न होगा। कोई उन्हें मार न सकेगा।"

इस पर दिति बोली—"हाय ! जब वे इतने क्रूर होंगे, इतना पाप करेंगे, मानवीय तथा देवताओं के अस्त्र-शस्त्रों से अवध्य होंगे, और देव ब्राह्मणों का अपराध करेंगे, तो निश्चय ही ब्राह्मणों

के शाप से भस्म होंगे। फिर तो उनका नरक से उद्धार हो ही नहीं सकता।"

तब कश्यप जी बोले—"वे इतने पराक्रमी और तेजस्वी होंगे कि उन पर ब्रह्मतेज का भी प्रभाव नहीं हो सकता। उन दोनों को मारने के लिये तो साक्षात् श्रीमन्नारायण ही पृथक्-पृथक् दो अवतार धारण करेंगे। वे दोनों भगवान् के ही हाथों से मारे जायँगे।"

यह सुनकर दिति को सन्तोष हुआ और वह बोली—"चलो, यह तो अच्छा ही हुआ। ब्रह्मशाप से बच गये। ब्रह्मदण्ड से दग्ध प्राणियों पर नारकी जीव भी कृपा नहीं करते, उनका कभी उद्धार ही नहीं होता, भगवान् के हाथ से मारे जायँगे, तो उनका उद्धार तो हो जायगा। सुदर्शन चक्रधारी भगवान् श्यामसुन्दर के अस्त्रों द्वारा जिनकी मृत्यु होती है, वे सभी मुक्ति के भागी बन जाते हैं। मेरे पुत्रों को निमित्त बनाकर भगवान् अवतार लेंगे, यह तो मङ्गल की ही बात है। यही एक दुःख की बात है, कि वे भगवत् भक्त न होंगे।"

भगवान् के प्रति इस प्रकार आदर भाव प्रकट करते देखकर मुनि का कोप शान्त हो गया। वे प्रसन्न चित्त से कहने लगे—"प्रिये! मैं ज्ञानदृष्टि से देख रहा हूँ। यह सब तो होगा ही। पहिले से ही भगवान् ने ऐसा विधान बना रखा है। तुम तो इसमें एक निमित्त मात्र बन गईं। जैसे तुमसे भूल में चार अपराध बन गये हैं। उसी प्रकार चार शुभ कार्य भी तुम्हारे द्वारा हो गये हैं।"

दिति ने मन ही मन प्रसन्न होते हुए पूछा—"वे चार शुभ कार्य कौन से हो गये हैं, भगवन्!"

कश्यप मुनि ने कहा—"देखो, एक तो तुम्हें तुरन्त अपने किये हुए कर्म पर हृदय से पश्चात्ताप हुआ। दूसरे तुम्हारी बुद्धि ठिकाने आ गई, शुभ-अशुभ का तुम्हें विवेक हो गया, उचित

अनुचित को समझ गईं। तीसरे तुमने शिवजी के प्रति सम्मान प्रकट करके उनकी स्तुति की, चौथे तुमने मेरे प्रति आदर के भाव प्रकट किये। भगवान् के द्वारा पुत्रों के मारे जाने पर प्रसन्नता और अभक्त होने के कारण दुःख किया, तो इनका भी फल होगा। इन चारों कार्यों का ऐसा फल होगा कि संसार में तुम्हारी कीर्ति प्रलय पर्यन्त व्याप्त हो जायगी। तुम्हारा समस्त कुल तर जायगा। तुम्हारा एक ऐसा पौत्र होगा, जो भगवत् भक्तों में अग्रणी समझा जायगा।"

अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए दिति ने पूछा—"प्रभो! मेरा वह पौत्र कैसा होगा। कैसे उसके गुण होंगे? कृपा करके विस्तार के साथ उसके गुणों का वर्णन करें। इस बात से मुझे इतनी अधिक प्रसन्नता हो रही है, कि इसे सुनकर मैं अपने पुत्रों को क्रूरता, निर्दयता आदि के दुखों को भूल गई हूँ।"

तब कश्यप मुनि कहने लगे—"देवि! तुम्हारे बड़े पुत्र के चार पुत्र होंगे। उनमें एक ही ऐसा भक्त होगा, जो २१ पीढ़ियों का तारक होगा। वह परम भागवत, उदाराशय, परम प्रतापशाली, महान्, से भी महान् अपनी विशुद्ध भक्ति से प्रशंसित होगा। कभी भी वह विषय भोगों में लिप्त होने वाला न होगा। उसका स्वभाव मधुर होगा। दूसरों के दुःख में दुखी, दूसरों के सुख में सुखी होने वाला, सबका सुहृद्, चन्द्रमा के समान सभी को शीतलता प्रदान करने वाला तथा समस्त गुणों का आकार होगा। वह भगवत् भक्तों का मुकुट मणि माना जायगा। सभी स्थानों में उसके चरित्र प्रमाण माने जायँगे। वह भगवान् वासुदेव के गुणों में ही सदा अनुरक्त होगा। अधिक क्या कहें, संसार में उसकी कीर्ति भगवान् के समान व्याप्त होगी। जैसे भगवत् भक्त भगवान् के चरित्रों को भक्ति-भाव से श्रवण करते हैं। उसी प्रकार उसके

भी गुण चरित्र सुने जायँगे। भगवान् के साथ ही साथ उसके भी गुण गाये जायँगे।"

दिति ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! भगवान् जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं। चलो, मेरे कुल में एक तो भगवान् का भक्त होगा। एक ही भक्त समस्त कुल परिवार को तार देते हैं। मेरे पुत्रों की मृत्यु साक्षात् भगवान् के द्वारा होगी। इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये ?"

श्री मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार दिति अपने पति के मुख से ये बातें सुनकर उन्हें श्रद्धा सहित प्रणाम करके भीतर चली गई।"

छप्पय

होत काम के शान्त भई दिति लज्जित भारी।
बोली गद्गद् गिरा क्षमहु प्रभु चूक हमारी॥
मुनि बोले—तव पुत्र होहिंगे पापी, कामी।
बली साहसी बड़े हनहिं तिनि अन्तर्यामी॥
किन्तु पौत्र हरि भक्त है, यश जग महँ फैलायगो।
याके भक्ति प्रभाव तैं, कुल समस्त तरि जायगो॥

—::—

दिति के गर्भ से देवताओं को भय

[१३४]

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥
लोके तेन हतालोके लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥१

(श्री भा० ३ स्क० १५ अ० १,२ श्लोक)

छप्पय

सुने पुत्रअति क्रूर अधम सब कूँ संहारें ।
शंकित है शत वर्ष रही गरभहिँ दिति धारें ॥
उमतेज तें भये हीन सूरज शशि जब ई ।
ब्रह्म लोक कूँ गये देवता मिलिकें सब ई ॥
इन्द्रादिक बोले प्रभो, ओज तेज सब को गयो ।
दशों दिशा महँ दयामय ! अन्धकार काको भयो ॥

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी ! प्रजापति भगवान् कश्यप के तेजयुक्त गर्भ को, इस आशङ्का से कि मेरे इन पुत्रों से देवताओं को कष्ट होगा और इनका तेज दूसरों के तेज को नाश करने वाला होगा सौ वर्षों तक दिति अपने गर्भ में धारण किये रही। उसी गर्भ के कारण लोक में जितने सूर्यादि आलोक हैं, वे सब आलोक हीन हो गये, इन्द्रादि लोकपाल तेज हीन हो गये। अतः उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं में फैलते हुए अन्धकार के कारण हुई अवस्था की बात लोकपितामह ब्रह्माजी के समीप जाकर निवेदन किया।"

ऐसा नियम है, महान् प्रकाश के सम्मुख क्षुद्र प्रकाश फीका पड़ जाता है। दिन में तारे कहीं चले नहीं जाते, किन्तु वे सूर्य के प्रकाश के सामने दिखाई नहीं देते। महान् तेजस्वी पुरुषों के सम्मुख अल्प तेज वाले पुरुष दब जाते हैं। किसी भी विषय की महानता हो, वह अपने से कम को ढक ही लेती है। एक बलवान् महान् गुण सभी दुर्गुण सभी सद्गुणों को दबा लेता है। इसी बात को लक्ष्य करके महामुनि मैत्रेय विदुरजी से कहने लगे—"विदुरजी! कश्यप के उस अत्युग्र तेज को दिति ने धारण तो किया, किन्तु वह सर्वदा चिन्तित बनी रही। उसने सोचा—"देखो, मेरे गर्भ से क्रूरकर्मा दैत्य उत्पन्न होंगे। उत्पन्न होते ही ये देवताओं को, ब्राह्मणों को तथा समस्त प्रजाओं को दुःख देने लगेंगे। अतः जितने ही दिन ये उत्पन्न न हों, उतने ही दिन कल्याण है। अतः उसने सौ वर्षों तक उनको गर्भ में ही धारण किये रखा। मुनियो! आप इसमें सन्देह न करें। कश्यप की पत्नी साधारण स्त्री तो थी नहीं। उसे समस्त शक्तियाँ अपने पति के प्रभाव से प्राप्त थीं। अतः बिना किसी विघ्न बाधा के वह उतने दिनों अपने उदर में कश्यपजी के तेज को सुखपूर्वक धारण किये रही। फिर भी तेज तो तेज ही है। कितने भी बादल क्यों न घिर जायँ, सूर्य का प्रकाश तो प्रकट हो ही जायगा। चन्द्रमा को वस्त्र में छिपाकर रखें, फिर भी अपना तेज तो प्रकाशित करेंगे ही। दिति के गर्भ के तेज ने सूर्य चन्द्र के प्रकाश को इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम आदि के तेज को फीका बना दिया। गर्भ में से ही अन्धकार मय ऐसा एक बवण्डर-सा निकलकर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो गया, कि उसने सबकी प्रभा को दबाकर सम्पूर्ण दिशाओं को तम से आवृत्त कर लिया।"

इस पर विदुरजी बोले—"महाभाग! प्रकाश और तम में तो बड़ा विरोध है। वह इतना अधिक प्रकाश था, कि सूर्य चन्द्रमा

भी तेजहीन बन गये, तो उससे दिशाओं में अन्धकार कैसे छा गया ?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! वह प्रकाश तो अवश्य था, किन्तु अत्युग्र तममय प्रकाश था। सभी सात्त्विक प्रकाशों को दबाकर तामस् प्रकाश का प्रभाव सर्वत्र फैल गया अर्थात् उस तेज के सम्मुख किसी का तेज महत्व नहीं रखता था। सर्वत्र अशांति छा गई। देवता हतप्रभ होकर चिन्ता में पड़ गये। देवताओं के तो एक मात्र आश्रय वे ही चतुर्मुख विधाता हैं और उनके आश्रय चराचर के स्वामी श्रीहरि हैं। अतः संकट पड़ने पर देवता ब्रह्माजी के पास जाते हैं, ब्रह्माजी महादेवजी आदि को साथ लेकर भगवान् की सेवा में उपस्थित होते हैं। ये लोग अपने बल के भरोसे कभी कुछ नहीं करते। इसीलिये ये सब देवता कहलाते हैं। असुर जो भी जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान करेंगे, अपने अहङ्कार को बढ़ाने को करेंगे। उन्हें अपने अहं पर भरोसा है। इसीलिये वे असुर कहलाते हैं। असुरों में शारीरिक बल देवताओं से भी अधिक होता है। कभी-कभी विजय भी उन्हीं की होती है, किन्तु देवता अपनी दृढ़ भक्ति के द्वारा भगवान् की सहायता से फिर उन पर विजय पा लेते हैं। इसीलिये देवता सदा पूजनीय समझे जाते हैं, असुर उपेक्षणीय।"

हाँ, तो उस तमोगुणयुक्त तेज से घबड़ा कर सभी देवता ब्रह्माजी की शरण में गये, और उन्होंने लोक पितामह को विधिवत् प्रणाम किया और सुन्दर-सुन्दर सूक्तियों द्वारा उनकी स्तुति की। देवताओं ने कहा—"प्रभो ! आप तो काल से परे हैं। आपके लिये भूत भविष्य और वर्तमान ये काल के भेद कुछ नहीं हैं। हाथ पर रखे हुए जल से भरे काँच के पात्र के भीतर बाहर की सभी बातें जैसे मनुष्य प्रत्यक्ष जानता है, उसी प्रकार आप

जगत् के भीतर बाहर की सभी बातें जानते हैं। आपसे कोई भी संसार की आगे पीछे की बात छिपी नहीं है।"

ब्रह्माजी हँसकर बोले—"इस अप्रासंगिक बात के कहने से तुम्हारा प्रयोजन क्या है? अपना अभिप्राय सीधे शब्दों में बताओ। द्राविड़ प्राणायाम क्यों कर रहे हो?"

देवताओं ने कहा—"प्रभो! यह जो चारों दिशाओं में अन्धकार व्याप्त हो रहा है, यह क्या है? यह तो हमें बड़ा ही असह्य मालूम पड़ता है। आप तो इसके विषय में सब जानते ही होंगे, इसका कारण जानने की हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। आप देवताओं के भी परम देव हैं, जगत् के रचयिता हैं, लोकपालों के भी नियामक हैं, सभी के भावों को जानने वाले हैं, विज्ञान के बल से ही आप सृष्टि रचते हैं। अपनी माया से ही आपने अपना यह चतुर्मुख रूप धारण कर लिया है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई, हम तो रजोगुण को स्वीकार करके सृष्टि रचते हैं।"

देवताओं ने कहा—"नहीं महाराज, यह तो आपकी लीला है। आपने स्वेच्छा से रजोगुण को स्वीकार किया है। आप तो ज्ञान-दाता, भयत्राता, सृष्टि बनाने वाले, सबको वेद वाक्य रूप रस्सी में बाँधे रहने वाले, सबको जीवन दान देने वाले, प्राणों के प्रेरक और जीवों के प्रपितामह हैं। भगवन्! इस अन्धकार ने हमें बहुत भयभीत बना रखा है, सभी डरे हुए हैं। पृथ्वी पर के समस्त धर्म कर्म लुप्त होते जा रहे हैं। इसका कारण हमें बताइये। इस दुःख से हमें बचाइये। इस अन्धकार को हटाइये। हम शरणागतों को अपनाइये और अपनी दया दृष्टि द्वारा दीन हुए देवों को सनाथ बनाइये।"

ब्रह्माजी ने पूछा—"अच्छा तुम लोगों ने क्या समझा है? कहाँ से यह तमोमय तेज आ रहा है?"

देवता बोले—"महाराज ! हम तो यही समझते हैं, कि भगवान् कश्यपजी ने माता दिति के गर्भ में अपना तेज स्थापित किया

था। सम्भव है, वही तेज बढ़ता हुआ विश्व को व्याप्त कर रहा है, उधर से ही यह सबको भयभीत और प्रभाहीन बनाने वाला तमोमय तेज आ रहा है। दिति के गर्भ में ऐसा कौन-सा देव, दैत्य,

यक्ष, गन्धर्व, नाग या और कोई अद्भुत प्राणी आ गया है, कि उसने अभी से बिना उत्पन्न हुए ही हम सबको हतप्रभ बना दिया है, उत्पन्न होकर तो न जाने यह क्या-क्या अनिष्ट कर डालेगा ?"

यह सुनकर लोक पितामह ब्रह्माजी हँसे, वे सब बातें समझ गये यह तेज किसका है ? इस रहस्य को जान गये। अतः अपनी परम मधुर वाणी से देवताओं को आनन्दित करते हुए कहने लगे—"तुम लोग अभी इसका रहस्य नहीं समझे ?"

देवता बोले—"महाराज, समझे ही होते, तो आपसे इस भाँति विनय क्यों करते ?"

ब्रह्माजी बोले—"देखो, यह साधारण तेज नहीं है। भगवान् वैकुण्ठनाथ के दो प्रधान पार्षद दिति के गर्भ में आ गये हैं।"

चौंककर देवताओं ने कहा—"भगवन् ! यह कैसी असम्भव बात आप कह रहे हैं ? भगवान् वैकुण्ठनाथ के प्रधान पार्षद और गर्भ में सो भी दैत्य योनि में। यह बात तो हमारी समझ में आती ही नहीं, और न आने ही योग्य है।"

ब्रह्माजी गम्भीर होकर बोले—"अरे भैया ! यह बात तुम्हारी समझ में आ ही कैसे सकती है ? यह तो भगवान् की लीला है। वे कब क्या करना चाहते हैं ? इसे उनके सिवाय कोई जान नहीं सकता। सम्भव-असम्भव तो हमारे लिये है। उनके लिये सब सम्भव है। असम्भव नामक कोई वस्तु उनके यहाँ है ही नहीं। बस, एक ही बात उनके लिये असम्भव है, एक ही कार्य करने में वे असमर्थ हैं।"

देवताओं ने पूछा—"महाराज, वह कौन-सा कार्य है जिसे सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न सर्वेश्वर भी नहीं कर सकते ?"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"हाँ, एक कार्य सर्वसमर्थ होने पर भी वे करने में समर्थ नहीं। वह है सर्वात्मभाव से शरण में आये

हुए का परित्याग करना। जो पुरुष स्त्री, धन, पुत्र भृत्य तथा और भी सनहत ममता की वस्तुओं को त्यागकर भगवान् की शरण में कैसे भी आता है, उसका त्याग वे करना भी चाहें, तो भी नहीं कर सकते। शरण में आये हुए को त्यागने की उनमें सामर्थ्य नहीं। इसके अतिरिक्त उनके लिये सभी सम्भव है।"

देवताओं ने पूछा—"हाँ, तो प्रभो! हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है, कि भगवान् विष्णु के उस लोक से जहाँ जाकर कोई संसार में लौटता नहीं, उसी अपुनरावृत्ति वाले लोक से साधारण पुण्यवान् जीव भी नहीं, साक्षात् श्रीपति के प्रधान पार्षद गर्भ में किस कारण से आये? यह ठीक है कि इसमें भगवान् की इच्छा ही प्रधान कारण है, फिर भी कुछ न कुछ तो कारण होगा ही। किसी न किसी को किसी न किसी कार्य के द्वारा निमित्त बनाया ही होगा। इसे सुनने की हमें बड़ी इच्छा है। यदि हम इसके अधिकारी हों, तो इस कथा को हमें आप सुनावें।"

देवताओं के इस प्रकार पूछने पर लोकपितामह ब्रह्माजी कहने लगे—"देवताओ! जिस कारण से ये लोग दिति के गर्भ में आये हैं और भगवान् ने जो यह अद्भुत लीला रची है, उसे मैं तुम सबको सुनाता हूँ। तुम सब एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा सावधानी के साथ श्रवण करो।"

महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! जिस प्रकार ब्रह्माजी ने प्रभु के पार्षदों के पृथ्वी पर पतन की गाथा सुनाई, उसी को मैं आपके सम्मुख कहूँगा। आप दत्तचित्त होकर इस पुण्याख्यान को सुनें।"

छप्पय

आप काल के काल जगत्पति अन्तर्यामी।
भूत–भविष्यत—वर्तमान सबई के स्वामी॥
हस्तामलक समान विषय सब विदित जगत के।
करहिँ कर्म नित सोहि होयँ जो जग के हित के॥
देव, दैत्य, दानव, असुर, को प्रविस्यो दिति उदर महँ।
तेज हीन सबई करे, व्यथित भये अब रहहिँ कहँ॥

—:—:—

सनकादि मुनियों से वैकुण्ठ लोक का वर्णन

[१३५]

मानसा मे सुता युष्मत् पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० १२ श्लोक०)

छप्पय

हँसिके ब्रह्मा कहें—विष्णु पार्षद ये आये ।
सनकादिक है कुपित शाप दे भूमि गिराये ॥
बोले विस्मित देव विभो ! सब बात बताओ ।
माया रहित कुमार क्यों कस शाप सुनाओ ॥
ब्रह्मा बोले मम तनय, हरिलीला महँ नित निरत ।
हरि दरशनकूँ गये मिलि, विष्णुलोक घूमत फिरत ॥

स्वर्ग में भी नरक है और नरक में भी स्वर्ग है । इसलिये न तो स्वर्ग में सर्वथा सुख ही सुख है और न नरक में दुःख ही दुःख । आप पूछेंगे स्वर्ग तो सुख की खानि है, उसमें भला क्या दुःख हो सकता है, नरक तो यातना का घर ही है, उसमें सुख कहाँ से आया ? इस बात पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो

---

* श्री ब्रह्माजी देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ ! सनकादि जो मेरे मानसिक पुत्र हैं, जो तुम सबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं, वे लोकों की आसक्ति रहित होकर स्वेच्छापूर्वक आकाश मार्ग से सभी लोकों में घूमते रहते हैं ।"

पता चल जायगा, कि इन लोकों में अत्यन्त दुःख सुख नहीं। नरक क्या हैं ? पृथ्वी के नीचे एक अन्धकार मय लोक विशेष हैं। वहाँ बड़े-बड़े दुःख देने के साधन हैं। काँटों का वन है, रक्त की नदियाँ हैं, मूत्र विष्ठा के कुण्ड, सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र जैसे जीव हैं। तपाये हुए तैल के कड़ाहे, आदि-आदि बहुत से भयंकर, वीभत्स हृदय को हिला देने वाली दुखदायी वस्तुएँ हैं। वे इन चर्म चक्षुओं से नहीं देखी जा सकतीं। इस स्थूल शरीर को उनसे कुछ भी कष्ट नहीं हो सकता। वे सभी वस्तुएँ सूक्ष्म हैं और यातना का सूक्ष्म शरीर ही उनको भोगने से सुखी-दुखी होता है। जैसे कोई स्वप्न में किसी को मारे तो स्वप्नावस्था में कितनी पीड़ा होती है, कितना मर्मान्तक दुःख होता है। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है, कि जागने पर भी कुछ देर वह भय नहीं जाता, आँखों में प्रत्यक्ष अश्रु बहते हुए दिखायी देते हैं। स्थूल वस्तु दुःख देने वाली नहीं। स्वप्न को सूक्ष्म शरीर को ही वेदना होती है। वहाँ पापी जीव ही अनेक प्रकार के तापों द्वारा तपाये जाते हैं। वहाँ भी कभी-कभी ऐसे पुण्यात्मा पुरुष पहुँच जाते हैं, कि उनके शरीर की गन्ध से वहाँ के सभी लोग सुखी हो जाते हैं कि, उनके दुःख कुछ समय को दूर हो जाते हैं। कोई-कोई करुणा-वश अपने पुण्यों को देकर समस्त नारकीय जीवों को सुखी बनाते हुए वहाँ से निकलवा भी देते हैं। यह तो नरक जैसे दुःख के स्थान में सुख की बात रही।

इसी प्रकार स्वर्ग में भी दुःख है। स्वर्ग का सुख भोगने प्रायः पुण्यात्मा पुरुष ही जाते हैं, सबके पुण्य एक समान तो होते नहीं। जिन्होंने बहुत पुण्य किया है, उन्हें बहुत-सी सुख की सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। अच्छे-से-अच्छे भोग, सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें, उत्तम से उत्तम संगीत, सुगन्धि, विमान सेवक आदि मिलते हैं। जो साधारण पुण्य वाले होते हैं, उन्हें

साधारण सुख सामग्रियाँ मिलती हैं। इसलिये कम सुख वाले बड़े सुख वालों से पृथ्वी की ही भाँति डाह करते हैं। उन्हें ईर्ष्या होती है। यह बड़ा भारी दुःख है। यह सातिशय दोष भी हृदय को पीड़ित करके मनुष्य को दुखी बनाता है, स्वर्ग में एक सबसे बड़ा दुःख यह है कि, इस बात का पहिले ही पता हो जाता है, कि हम इतने दिनों के पश्चात् यहाँ से गिरा दिये जायँगें। ज्यों-ज्यों दिन कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों गिरने के भय से दुःख होता है। गिरते भी हैं तो उलटा सिर करके ढकेल देते हैं। फिर कोई शील संकोच भी नहीं करता। बहुतों को गिरते हुए देखते हैं, इससे भी दुःख होता है; कि एक दिन हमें भी इसी भाँति गिरना पड़ेगा। उन दुःखों के कारण स्वर्ग का सुख भी निरादर नहीं। वहाँ भी भय है, शंका है, काम-वासना है, भोगों की लिप्सा है, डाह, मत्सर्य है, ईर्ष्या है और है पतन की प्रतिपल चिन्ता। जहाँ सुख-ही-सुख है, दुःख का लेश भी नहीं है, वह लोक है वैकुण्ठ धाम। जहाँ लक्ष्मी जी के सहित श्रीमन्नारायण विराजते हैं, वहाँ दिव्य सुख-ही-सुख है, दुःख का नाम नहीं है। स्वर्ग से भी अनन्त सुख उस लोक में है। जिनके हृदय में पाप का लेश भी है, वे उस लोक के दर्शन भी नहीं कर सकते। इसी बात को लक्ष्य करके भगवान् लोक पितामह ब्रह्मादेव वैकुंठधाम का विस्तार के साथ वर्णन करते हैं।

ब्रह्माजी देवताओं से बोले—"देवताओ! तुम अपने पूर्वज सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन इन चारों ऋषियों को तो जानते ही हो। ये मेरे मानसिक पुत्र हैं। सृष्टि में सब से प्रथम ये ही उत्पन्न हुए हैं। ये तुम सबसे श्रेष्ठ हैं, ज्येष्ठ हैं। इन्होंने प्रवृत्त धर्म स्वीकार नहीं किया है। स्वेच्छा से सब लोकों में घूमते रहते हैं। ये न कभी घटते हैं न बढ़ते हैं, सदा पाँच वर्ष के ही नङ्ग धड़ंगे इस लोक से उस लोक में, उस लोक

से इस लोक में फिरते रहते हैं। इनका न कोई शत्रु है न मित्र, अपना है न पराया, निस्पृह होकर सदा भगवत् भजन में तल्लीन रहते हैं।

एक दिन ये लोग मेरे पास आये और आकर कहने लगे—"पिताजी! हमने अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, पाताल और रसातल ये ७ नीचे के लोक; भू, भुव, स्वर्ग, मह, जन तप और आपका सत्यलोक ये सातों ऊपर के लोक इस प्रकार चौदहों भुवन छान डाले, किन्तु कहीं शाश्वती शान्ति नहीं मिली, आप जानते ही हैं, हमने काम क्रोध को वश में कर ही लिया है, माया तो पास भी नहीं फटकने पाती, हमें कोई ऐसा लोक बताइये जहाँ दुःख का लेश भी न हो, सुख ही सुख हो।"

इन कुमारों की बात सुनकर मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, कि इनके मन में कुछ अभिमान का अंकुर उत्पन्न होने लगा है। देवताओ! तुम्हारा बार-बार स्वर्ग से पतन क्यों होता है? इसी लिये कि तुम स्वर्गीय सुखों में संलग्न होकर अपने को ही सर्वेसर्वा मान बैठते हो। उन सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को भूल जाते हो। तब तुममें और असुरों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों ही पशु बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। पशुओं में जो बलवान् होता है, वह अपने से निर्बलों को जीत लेता है। असुर तुमसे बलवान् है, इसीलिये वे तुम्हें जीत लिया करते हैं।

मैंने सोचा—"ये लोग ज्ञानी तो हैं, इन्हें शब्द ब्रह्म और परब्रह्म का ज्ञान तो प्रायः हो गया है, किन्तु अभी इन्हें भक्ति का चसका नहीं लगा है। बिना भक्ति मार्ग का आश्रय लिये हुए सर्वात्मभाव से अहंकार का समूल नाश होता नहीं। कभी-कभी अहंकार उदित हो जाता है। इन्हें समझाऊँगा तो ये मानेंगे नहीं, एक तो इन्हें यह अभिमान है, कि हम त्यागी हैं, हमारे पिता प्रपञ्च में फँसे हैं। दूसरे लाड़-प्यार के कारण अपने पुत्र अपने से

पढ़ते नहीं, इन्हें दूसरों के पास पढ़ाने को भेजना पड़ता है। इन्हें सिवाय वैकुण्ठनाथ के और कौन पढ़ा सकता हैं। इनके अहंकार के अंकुर को समूल नाश करने की शक्ति और है ही किसमें ? वे सभी की नाड़ी जानते हैं, किसे प्यार से समझाना चाहिये, किसे बड़ा बनाकर समझाना चाहिये, किसे डाट-डपट कर, शाप देकर, कैसे शिक्षा देनी चाहिये ? इन सब बातों की कुञ्जी तो वे ही जानते हैं। इसलिये वे बोले—"पुत्रो ! तुमने इन चौदह लोकों में क्या देखा ? सर्वत्र माया है, कहीं सूक्ष्म, कहीं स्थूल । ये सब पुनरावृत्ति लोक हैं। कोई ऊपर से नीचे आता है, कोई नीचे से ऊपर जाता है, तुम लोगों ने वैकुण्ठ को देखा है ?"

सनकादिक सम्भ्रम के साथ बोले—"नहीं, महाराज ! वैकुण्ठ तो हमने नहीं देखा ।"

यह सुनकर उपेक्षा के स्वर में मैंने कहा—"तब तुमने क्या देखी, धूल ? वैकुण्ठ नहीं देखा तो कुछ नहीं देखा ।"

उन्होंने उत्सुकता के स्वर में कहा—"पिताजी, हमें वैकुण्ठ का वर्णन सुनाइये । हम उस दिव्य लोक के दर्शन अवश्य ही करेंगे। उसकी रूप रेखा बता दीजिये, उसका हमें परिचय करा दीजिये ।"

मैंने कहा—"पुत्रो ! जिस प्रकार श्रीहरि के गुण अवर्णनीय हैं, वैसे ही उनके लोक के भी गुणों के वर्णन की सामर्थ्य किसी में नहीं है। भगवान का नाम, भगवान् का धाम, भगवान का रूप और भगवान् की लीलायें, ये सब वस्तुएँ चिन्मय एक-सी गुण वाली पृथक्-पृथक् नाम होने पर भी वास्तव में एक ही हैं। वैकुण्ठ की शोभा अवर्णनीय है। उसका वर्णन करना बुद्धि के बाहर की बात है।"

इस पर सनकादिकों ने विनय से कहा—"फिर भी प्रभो ! थोड़ी बहुत संक्षेप से ही सही, कुछ तो सुनाइये।"

उत्सुकता देखकर मैंने कहा—"देखो, वैकुण्ठधाम में वे

लोग कभी नहीं जा सकते, जिन्होंने निरन्तर एकाग्र चित्त होकर भगवान् श्यामसुन्दर की संसार बन्धन को काटने वाली सुमधुर कथायें न सुनी हों। जिन्होंने विना किसी संसारी भोगों की कामना के श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की निष्कपट भाव से आराधना नहीं की हो। वे समस्त लोकों से नमस्कृत उस लोक के कभी दर्शन नहीं कर सकते। वहाँ के दिव्य रूप को बिना भगवत् कृपा के कोई धारण नहीं कर सकता।"

सनकादिकों ने पूछा—"प्रभो! वहाँ के वासियों का कैसा रूप होता है?"

मैंने कहा—"भैया! अब वैकुण्ठ वासियों के रूप का हम अधिक वर्णन क्या करें? यही समझ लो कि भगवान् के और उनके रूप में कोई भी अन्तर नहीं होता। सभी चतुर्भुज होते हैं। सभी के हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुध होते हैं। सभी पीताम्बर पहिने रहते हैं। सभी के कंठों में वनमाला पड़ी रहती हैं। सभी दिव्य वस्त्रों और आभूषणों से सदा सुसज्जित रहते हैं। सभी की कान्ति अतुलनीय होती है। सभी दिव्याति-दिव्य विमानों पर घूमते हैं। सभी को सभी प्रकार से सर्वसुख सदा प्राप्त होते रहते हैं।"

सनकादियों ने पूछा—"तब उनमें और साक्षात् वैकुण्ठपति भगवान् में कुछ भी अन्तर नहीं रहता? फिर पहिचाने कैसे जायँ, कि ये वैकुण्ठवासी सुकृति हैं, ये ही साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं?"

इस पर मैंने कहा—"बस, दो चिह्नों से ही भगवान् और उनके लोकपालों में कुछ अन्तर है। एक तो सबके श्रीवत्स का चिह्न नहीं होता, दूसरे श्रीमती लक्ष्मीजी केवल मूर्तिमयी होकर श्रीभगवान् के ही साथ रहती हैं। इन दो विशेषताओं से ही भगवान् श्रीहरि वैकुण्ठवासियों से पृथक् प्रतीत होते हैं, नहीं तो

रूप, रंग, वय, शोभा, कान्ति सभी वैकुण्ठवासियों की भगवान् के अनुरूप-सी ही होती है।"

वहाँ वेद-वेदान्त प्रतिपाद्य धर्ममूर्ति पुराणपुरुष सनातन सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् वासुदेव अपने निजी जनों पर अनुग्रह करने के हेतु ही अपनी विशुद्ध सत्वमयी मूर्ति बनाकर सर्वदा निवास करते रहते हैं। वहाँ के वासियों को सभी समय आनन्द की राशि, शोभा के धाम, नयनाभिराम, घन के सदृश श्याम श्रीहरि के निरन्तर दर्शन होते रहते हैं।

उस लोक में ये संसारी ऋतुएँ नहीं। दिव्य ऋतुएँ मूर्तिमयी होकर, हर समय समस्त लोक सहित भगवान् की सेवा में सदा संलग्न रहती हैं। जब जिस समय जो जिस ऋतु का सुख चाहता है, तब उसी समय वह उसी ऋतु के सुख का अनुभव करने लगता है। वहाँ प्रयत्न नहीं, संकल्प के साथ सब हो जाता है। इस लोक में नैःश्रेयस नाम का एक वन है। वह वन क्या है, कैवल्यपद मुक्ति ने ही वन का वेष बना रखा है। उस वन में स्वर्ग के समान कल्पवृक्ष नहीं वहाँ के वृक्ष दिव्यातिदिव्य हैं। असंख्यों वर्ष जिन्होंने इसी इच्छा से निष्काम होकर आराधना की है, कि हमें वैकुण्ठ में वृक्ष बनकर वैकुण्ठनाथ की सेवा का सुयोग प्राप्त हो सके, वे ही महाभाग मुक्ति को ठुकराने वाले परम भागवतों ने यहाँ वृक्षों का विग्रह बना लिया है। उस लोक में जड़ चैतन्य छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेद नहीं। वहाँ सभी चिन्मय हैं, सभी एक से हैं। सभी का कार्य भगवान की सेवा करना ही है। सभी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ हैं। वहाँ नाना कर्म करने वाले छोटे-बड़े लोग तो जाते नहीं, सभी एक ही कर्म करने वाले भगवत् भक्ति में परायण ही वहाँ पहुँच सकते हैं। सुविधा और सेवा के अनुरूप वे अपने-अपने रूप बना लेते हैं।

वहाँ दिव्य गन्धर्व भी अपनी प्रिया गन्धर्वियों के साथ गोलोक-

पति गोविन्द के गुण गान की अपनी सेवा को समर्पित करते हैं। वहाँ के गन्धर्व और किसी विषय का गान नहीं करते, केवल मधुर स्वर में ताल और लय के साथ वैकुण्ठनाथ की ही माधुरी का बखान करते हैं, उन्हीं की लीला को गाते हैं, यद्यपि गन्धर्व बड़े कामी होते हैं, वे वासन्ती, शीतल, मन्द सुगन्धित वायु के लगते ही अपनी प्रियाओं के संग रहने पर कामासक्त हो जाते हैं, किन्तु वैकुण्ठ के गन्धर्वों को तो हरिकथा में ही इतना आनन्द आता है, कि कितनी भी मोहक सामग्री क्यों न हो, वे हरिकथा को नहीं छोड़ते। वहाँ काम का तो काम ही नहीं। काम होता है अतृप्ति में। वहाँ तो सभी आप्तकाम और तृप्त ही हैं। केवल भगवत् कथा में ही सभी अतृप्त हैं। जिसे देखो वही श्रीकृष्ण-कथा, कीर्तन का प्यासा-सा घूम रहा है। कोई श्रीकृष्ण-कथा कह रहा है, कोई श्रद्धा से सुन रहा है। असंख्यों भ्रमर जब गुञ्जार करते हुए सुन्दर सरोवरों में खिली हुई, कुमुदिनी के कुसुमों पर अथवा मालती के मकरन्द भरे पुष्पों पर बैठते हैं, तो अन्य पक्षी कबूतर, कोकिला, हंस, सारस, चक्रवाक, चातक, शुक, सारिका, तीतर, मयूर, सभी अपना बोलना बन्द करके भ्रमरों के मुखों से निसृत कथा रूपी रसामृत का इकटक भाव से पान करने लग जाते हैं। जिस पक्षी का भी शब्द सुनो उसी में श्रीहरि के गुणों का ही गान रहेगा। जिस वृक्ष के नीचे बैठो, वहीं वैकुण्ठ-वासी जन भगवत् ध्यान में तल्लीन मिलेंगे। वहाँ कोई ऐसा वृक्ष नहीं जिसकी गन्ध मन को मोहित करने वाली न हो, वहाँ कोई ऐसा पादप नहीं जो हरि-सेवा में न आता हो। भगवान् सभी वृक्षों का अत्यधिक सम्मान करते हैं, किन्तु तुलसी देवी का तो सबसे अधिक आदर करते हैं?"

इस पर सनकादियों ने पूछा—"भगवन्! यह तो पक्षपात हुआ। जब सभी को समान सेवा का अधिकार है, तो भगवान्

तुलसीदेवी का इतना आदर क्यों करते हैं।"

इस पर मैंने आँखों में आँसू भरकर कहा—"पुत्रो ! यह पक्षपात नहीं, भगवान् की भक्तवत्सलता है। वैकुण्ठ को ले जाने वाली तुलसी ही तो हैं। जिन्होंने कभी प्रभु के पुनीत पाद-पद्मों में तुलसीदेवी को समर्पित नहीं किया, जिन्होंने श्रीचरणों पर चढ़ी हुई तुलसी को सिर पर नहीं चढ़ाया, उनकी दिव्य गन्ध को सूँघा नहीं, जिन्होंने भगवान् के गले में पहिनाई तुलसीदलों की मनोहर माला को श्रद्धा से सिर पर चढ़ाकर प्रसादी रूप में अपने गले में धारण नहीं किया, जिन्होंने तुलसी मिश्रित चरणामृत का पान नहीं किया, जिन्होंने हरी-हरी मंजरी सहित नैवेद्य का भक्षण नहीं किया, जिन्होंने तुलसी की बनी काष्ठ माला को कण्ठ में, कानों में, मस्तक पर, भुजाओं में, हाथों में धारण नहीं किया, जिन्होंने तुलसी वृक्ष को अपने घर में रोपकर उसका दर्शन स्पर्श नहीं किया, उनकी प्रदक्षिणा नमस्कार नहीं की, जल नहीं दिया, उनके आगे दीपक नहीं जलाया, पूजा नहीं की, उनको भला वैकुण्ठधाम के दर्शन कैसे हो सकते हैं ? ये देवी अपनी महिमा से ही प्राणियों को वैकुण्ठधाम को ले जाती हैं। इसीलिये भगवान भी इनका अत्यधिक आदर करते हैं और समस्त वैकुण्ठवासी भी इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। दूसरे वृक्ष इनके सौभाग्य पर ईर्ष्या नहीं करते, डाह नहीं करते, बुरा नहीं मानते, क्योंकि ये सब तो वहाँ हैं ही नहीं। महारानी तुलसीजी से वैकुण्ठ की शोभा है, वहाँ के मंदार, कुन्द, तिलक, उत्पल, कमल, चम्पक, अर्णा, पुन्नाग, नागकेशर, मौलश्री, अम्बुज, पारिजात आदि जितने देव वृक्ष हैं सभी महारानी तुलसी के तप को, सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। सभी उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं। वे गुणग्राही मात्सर्य हीन और भक्त हैं। स्वयं श्रीहरि को तुलसीजी की गन्ध अत्यन्त प्रिय है। इसलिये सभी भक्त उनके चरणों में मञ्जरी-

युक्त तुलसी को ही चढ़ाते हैं। निरन्तर तुलसी के चढ़ाने से उनके चरण कमलों से सदा दिव्य तुलसी की गन्ध निकलती रहती है। वे तुलसी के दलों से सुगन्धित मालाओं को बड़े प्रेम से धारण करते हैं। अतः वह लक्ष्मीजी के सम्मुख ही उनके वक्षः-स्थल पर सदा लोटती रहती हैं। इतने पर भी लक्ष्मी बुरा नहीं मानतीं, रोष नहीं करतीं। उनके रहने से दुखी नहीं होतीं।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! सनकादिकों के पूछने पर जब मैं महारानी तुलसी देवी का वर्णन करने लगा, तो मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो गया। गला भर आया, आगे कुछ भी कहने में मैं समर्थ हो गया।"

छप्पय

दिव्य धाम वैकुण्ठ बसें हरि शुद्ध सत्वमय।
जहाँ न ईर्ष्या द्वेष दम्भ छल कपट कष्ट भय॥
नैःश्रेयस वन जहाँ दिव्य पादप सुखकारी।
सब ऋतु हैं साकार रहें अतिशय प्रियकारी॥
कमल कुमुदिनी सोहिं सर, लता माधवी मधुमयी।
मधुप गुञ्जि गुन गावते, कृष्ण कथा नितई नयी॥

श्री वैकुण्ठ वर्णन

[१३६]

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दम्,
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि,
सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १५ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

कमला तुलसी हिली मिली निज नाथ रिझावें।
हृदय कण्ठ में लिपटि प्रेम परिरम्भन पावें॥
तजि लक्ष्मी चांचल्य गहें कर कमल घुमावें।
मानों मणिमय भवन माँहि मार्जनी लगावें॥
कथा कीर्तन ते विमुख, तिन को नर तनु ही वृथा।
ते नहिं निरखें नाकपुर, हरिपुर की पुनि का कथा॥

---

* ब्रह्माजी देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ ! जिन लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये अन्य लोग बड़े-बड़े यत्न करते है, जो चञ्चल होने के कारण कही भी एक स्थान मे अधिक नही ठहरतीं वहाँ वैकुण्ठ, धाम में वे भी अपनी चञ्चलता के दोष को छोडकर मूर्तिमती होकर रहती हैं। रहती क्या हैं, मानों श्रीहरि के स्फटिक मणियों की भीतों वाले सुवर्ण मण्डित भवन में अपने चरण नूपुरो की झङ्कार करती हुई क्रीड़ा कमल को लीला से घुमाती हुई इस प्रकार घूमती हैं, मानों वहाँ झाड़ू दे रही हों, महल का मार्जन कर रही हों।"

हाय ! मनमोहन की कैसी मोहिनी माया है, जिसके वशीभूत होकर जीव अकर्त्तव्य कार्यों में जान-बूझकर प्रवृत्त होते हैं और उन्हें आनन्द के लिये करते हैं। बताइये, हम दूसरों की बिना ही प्रयोजन निन्दा करते हैं, इधर-उधर की व्यर्थ बातें बकते रहते हैं। परनिन्दा, परचर्चा से हमारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है। हम न्यायाधीश नहीं, शासक नहीं, सर्वज्ञ नहीं, विधाता नहीं, फिर व्यर्थ में बिना समझे बूझे दूसरों की निन्दित कथायें कह सुनकर अपने इहलोक और परलोक को नष्ट करके नरक के द्वार को क्यों अपने लिये खोलें ? क्यों अपने पूर्व पुण्यों को नष्ट करके आश्रयहीन होकर नरक की यातनाओं को भोगें ?

अरे मनुष्यो ! तुम अत्यन्त मनहर, कानों को अति मधुर लगने वाली, हृदय के समस्त पापों को नष्ट कर देने वाली, जीवन में सुख-शान्ति और नित नवीन उल्लास को बढ़ाने वाली कमनीय कृष्ण कथाओं को क्यों नहीं सुनते ? तुम विश्वास रखो, नित्य उन्हें श्रद्धा से सुनो, नित्य उन्हीं का चिन्तन करो, ताल स्वर और लय के साथ अथवा बिना ही ताल स्वर के उनका गान करो। तुम सुखी होगे, शान्ति तुम्हारी सहचरी होगी और अन्त में भगवान् के वैकुण्ठ धाम में जाकर वहाँ के कभी नष्ट न होने वाले, जिनमें क्षय की–पतन की–सम्भावना भी नहीं, ऐसे दिव्य-दिव्य सुखों का सदा उपभोग करते रहोगे। सदा वैकुण्ठाधिपति श्रीहरि का सानिध्य प्राप्त कर सकोगे, जो सभी सुखों के आलय, सभी आनन्दों के उद्गम और सभी विरामों के एकमात्र विश्राम स्थान हैं। वहाँ माया का लेश नहीं, किसी प्रकार का क्लेश नहीं और काम वासना की गन्ध नहीं।

ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं—"देवताओ ! जब मैं तुम्हारे

अग्रज कुमारों के सम्मुख वैकुण्ठ धाम का वर्णन कर रहा था, तो उन्होंने पूछा—"ब्रह्मन ! वैकुण्ठ में भी स्वर्गादि लोकों की भाँति अप्सरायें हैं क्या ?"

मैंने कहा—"हाँ, हैं क्यों नहीं, वहाँ भी अप्सरायें हैं। वैकुण्ठ-वासी भी अपने वैदूर्य और मरकत मणियों के सुवर्णमय दर्शनीय विमानों पर बैठकर इच्छानुसार वैकुण्ठ में घूमते हैं। उनमें क्षीण-कटि, पृथु नितम्ब, उन्नत वक्षःस्थल, कुटिल भ्रू और दीर्घ नयनों वाली अनुपम दिव्य सुमुखी सुन्दरियाँ भी बैठी हुई, हास परिहास करती हुई, आनन्द की क्षण-क्षण में वृद्धि करती हैं।" इस पर अखंड व्रतधारी सनकादि बोले—"जब ये ही सब काम की सामग्रियाँ वैकुण्ठ में भी हैं, तो फिर स्वर्ग में और वैकुण्ठ में अन्तर ही क्या रहा। यहाँ के भोग अपेक्षा कृत स्वल्प हैं, वहाँ के महान होंगे। यहाँ कुछ कम रूप, सौन्दर्य लावण्य होगा। वहाँ कुछ अधिक होगा। इतना ही तो अन्तर मालूम पड़ता है।"

इस पर मैंने कहा—"नहीं भैया ! ऐसी बात नहीं। स्वर्गादिकों के भोग काम को उत्पन्न करते हैं। शरीर सुख और उपभोग की लालसा बढ़ाते हैं। वहाँ यह बात नहीं, वहाँ सभी वस्तुओं से भगवद् भक्ति ही बढ़ती हैं। वैकुण्ठवासिनी सुन्दरियाँ भी सदा श्यामसुन्दर के ही विषय की चर्चा करती हैं, उनका ही कीर्तन करती हैं। उन्हें देखकर उनसे बात करके भगवत् स्मृति ही होती है।

इस पर कुमारों ने पूछा—"फिर वे वहाँ रखी ही क्यों गई हैं।"

मैंने हँसकर कहा—"वाह ! यह कोई प्रश्न है ? भगवान् सभी के हैं, सभी को उन्हें पाने का, प्रेम करने का पूर्ण अधिकार है। सभी उनके आश्रय में समान भाव से रह सकते हैं। सभी उनकी

सेवा सुश्रुषा में लग सकते हैं। जिन सुन्दरियों ने लक्ष्मी की सहचरी होने के लिये ही जन्म जन्मान्तरों तक तप किया है, उन्हें नारायण के साथ लक्ष्मी जी का सहचरीपन प्राप्त होता ही है। लक्ष्मीजी सर्वत्र चञ्चला हैं। बिजली की भाँति अभी यहाँ चमकीं, फिर छिप गईं। उनके पैर एक स्थान में टिकते नहीं। पुराण पुरुष की पत्नी की भाँति एक घर से दूसरे घर में घूमती रहती हैं, किन्तु इस लोक में वे अपना चाञ्चल्य परित्याग कर देती हैं। यहाँ वे सती साध्वी पतिव्रता के समान प्राणधन की परमप्रिय प्राणेश्वरी बनकर, सदा उन्हीं की सेवा में तत्पर रहती हैं। यहाँ वे न ईर्ष्या करती हैं न सौतिया डाह। तुलसी से साथ वैकुण्ठनाथ के हृदय में निवास करती हैं। न तुलसी जी को कोई रोष, न इन्हें आपत्ति। अपने नूपुरों की झनकार से भगवान् के दिव्य भवनों को गुञ्जायमान करती हुई, क्रीड़ा कमल को नचाती हुई, प्रेम के गर्व में इठलाती हुई, अपने लटकते हुए कौपेय दिव्य वस्त्रों से बुहारी-सी देती हुई, स्फटिक और वैदूर्य की मणिमय भित्तियों में अपना प्रतिबिम्ब निहारती हुई इधर से उधर छम्म-छम्म करके घूमती रहती हैं। उनके वदनारविन्द पर श्रीहरि के कृपा प्रसाद से प्राप्त प्रेम चिह्न कुंकुम से रंजित उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार शारदीय शशि के ऊपर कुंकुम बिखेर दिया गया हो। उसी चिह्न से चिह्नित होकर जब वे क्रीड़ा वाटिका में जाती हैं और हरिप्रिया तुलसी द्वारा अपने सरोवर के सभी सिंहासन पर सुशोभित होकर श्यामसुन्दर की समाहित चित्त से आराधना करती हैं, तो उन्हें अपने प्रतिबिम्ब से भ्रम हो जाता है। यहाँ जल में कोई मेरे ही सदृश हरिवल्लभा और भी बैठी हुई है। उसे भी प्राणनाथ के द्वारा प्रेम प्रसाद प्राप्त हुआ है। उसका भी अनुपम आनन उसी कृपा प्रसाद पूर्ण प्रेम चिह्न से चिह्नित है, तब उन्हें न द्वेष होता है न मत्सर, न मान होता है न

सौतियाडाह । स्वयं तुलसी को अपने हृदयधन के अमल कमल सदृश चारु चरणों में मञ्जरी सहित अर्पण करती है

और उसी नाट्य को प्रतिविम्ब में देखकर प्रसन्नता प्रकट करती हैं।"

सनकादिकों ने पूछा—"प्रभो ! कैसे लोग उस अनुपम शोभा युक्त वैकुण्ठ धाम में जाते हैं ?"

मैंने कहा—"देखो, जिन्होंने श्रीहरि को ही अपना एकमात्र आश्रय, अवलम्ब और जीवन सर्वस्व मान लिया है, ऐसे अनन्याश्रयी शरणागत प्रपन्न पुरुष ही उस वैकुण्ठ धाम में जाने के अधिकारी होते हैं। जिन्होंने विषय की बातों को विषवत् त्याग दिया है। जो निरन्तर, हरिलीला चिन्तन, हरिलीला कथन, हरिगुन गान में ही और कृष्ण कथा-श्रवण में ही तल्लीन रहते हैं, ऐसे अनन्याश्रयी सच्चे सेवक ही उस सर्वश्रेष्ठ लोक के दर्शन कर सकते हैं। जिनके कर कृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त और कोई काज करते ही नहीं, जिनके पाद उनकी पूजा सम्भार के जुटाने के ही लिये गतिमान् होते हैं, जिनके नयन श्यामसुन्दर और उन्हीं के आश्रित भक्तों के ही दर्शनों से उल्लसित, अश्रुपूर्ण और विकसित होते हैं, जिनका मस्तक मदनमोहन के चल और अचल विग्रह के ही लिये ही सदा नत रहता है, जिनकी रसना भगवत् नैवेद्य के अतिरिक्त सभी को हलाहल विष के समान समझती है। कृष्ण कैंकर्य के अतिरिक्त जिनका अन्य कोई कार्य ही नहीं, ऐसे सेवापरायण कृष्णकृपा प्राप्त भक्त ही वैकुण्ठ में जाकर अपने जीवनधन की अनन्य भाव से आराधना करते हैं। वहाँ के दिव्यातिदिव्य अक्षय भोगों का उपभोग करते हैं। जो परम-भागवत भक्त नित्यप्रति नियम से, नियत समय पर मिल जुलकर बैठकर, वैकुण्ठ गुण वर्णन करते हैं, उस गुण वर्णन और श्रवण के समय जिनका शरीर प्रेम से रोमांचित हो जाता है, अंगों में कम्पन होने लगती है, हृदय द्रवीभूत होकर आँखों के मार्ग से अश्रु बनकर बहने लगता है। रोमकूपों से सात्त्विक स्वेद और फुरहुरी-सी उठकर जिनके अंग प्रत्यङ्गों में विद्युत-सी चंचला उठने लगती है। जिनकी कथा श्रवण करते-करते तृप्ति होती ही

नहीं, जो कथा श्रवण मात्र से सभी सांसारिक धर्मों को भूल जाते हैं। ऐसे ऐसे परम प्रेमास्पद प्रभु-प्रेमी ही उस पुण्यपद को प्राप्त कर सकते हैं। वे ही उस मेरे लोक से भी वन्दित और सर्वश्रेष्ठ उच्चलोक में जाने के अधिकारी हो सकते हैं।"

सनकादिक मुनियों ने कहा—"भगवान् के उस लोक का दर्शन किन पुण्यों के प्रभाव से होता है ?"

तब मैंने कहा—"वह लोक पुण्यों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधन साध्य लोक नहीं है। वह एकमात्र कृपा-साध्य लोक है। करुणासागर की जिस भाग्यशाली पर कृपा हो जाय, जिसे अनुग्रह करके वे अपना लोक दिखाना चाहते हैं, वही उनके उस लोक के दर्शन करता है। जिन्हें अपने साधन का अभिमान हैं, अपने बल पुरुषार्थ तथा पुण्य कर्मों का भरोसा है, वे लोग अधिक से अधिक मेरे लोक तक आ सकते हैं। इससे ऊपर नहीं।"

इस पर वे बोले—"तब तो साधन व्यर्थ ही है ?"

मैंने कहा—"साधन व्यर्थ क्यों हैं ? व्यर्थ भी हो, तो मनुष्य बिना कुछ साधन किये रह ही नहीं सकता। इसलिये मनुष्य का दूसरा नाम साधक है। साधन अनेक हैं, किन्तु सर्वश्रेष्ठ साधन तो यही है, कि उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते हुए, आये हुए सुख-दुःखों को प्रारब्ध का भोग समझकर, बिना व्यग्र हुए प्रसन्नता से भोगते हुए निरन्तर उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करते रहना। इससे बढ़कर वैकुण्ठ धाम तक पहुँचाने वाला कोई अन्य साधन नहीं। वैकुण्ठ में जाकर भगवान् वैकुण्ठनाथ के दर्शन करके जीव कृतार्थ हो जाता है, उसका संसार बन्धन सदा के लिये कट जाता है। वह कृत-कृत्य हो जाता है। जिसने वैकुण्ठनाथ के दर्शन नहीं किये, उनका जन्म व्यर्थ है।"

यह सुनकर उत्सुकता प्रकट करते हुए कुमारों ने कहा—

"भगवन्! हम उस दिव्यातिदिव्य लोक का दर्शन करना चाहते हैं। हम सब वैकुण्ठनाथ के कृपा प्रसाद को पाकर कृतार्थ होना चाहते हैं। आपकी आज्ञा हो तो हम जायें?"

मैंने कहा—"बड़ी अच्छी बात है। जाओ, किन्तु सावधान होकर जाना। वहाँ कुछ गड़बड़ मत करना।"

उन्होंने कुछ अभिमान पूर्वक कहा—"हमें गड़बड़ सड़बड़ क्या करनी। माया को तो हमने स्वीकार ही नहीं किया। काम, क्रोध हमारे पास फटकते ही नहीं। हम किसी को ऊँच नीच समझते नहीं, किसी को दंडनीय, श्लाघनीय मानते नहीं। समान भाव से सभी को समझकर स्वच्छन्द होकर विचरते रहते हैं।"

मैंने कहा—"भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, जाओ मेरे भी पूजनीय पिता परब्रह्म परमेश्वर का दर्शन कर आओ।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! इस प्रकार मेरी आज्ञा पाकर ये चारों कुमार वैकुण्ठधाम को चले गये।"

छप्पय

श्रद्धा संयम सहित सुयश हरि सुनें सुनावें।
प्रेम पुलक तनु होहि, गिरें हँसि रोवें गावें॥
तुलसी पूजन करें भागवत भगवत मानें।
परधन लोष्ठ समान मातु सम परतिय जानें॥
त्रिभुवन की सम्पति मिलै, तऊ न जावे विषय मन।
स्वाँस-स्वाँस पै हरि रटैं, ते निरखें वैकुण्ठ जन॥

जय विजय को शाप

[१६७]

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यम्,
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्य विमानशोचिः।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योग—
मायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम्॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

चित्र विचित्र विमान विभूषित परम दिव्य जहँ।
सनकादिक मुनि मुदित योग बलतें पहुँचे तहँ॥
चित्त न चञ्चल भयो निरखि शोभा उपवन की।
मनमहँ अति ई उम लालसा हरि दरशन की॥
महल मनोहर मनि जटित, श्रीहरि के देखत भये।
द्वारपाल तें बिनु कहें, नंग धड़गे घुसि गये॥

अहा! कैसे हैं वे भाग्यशाली मुनि जो सङ्कल्प करते ही अपने योग प्रभाव से जिस लोक में चाहें पहुँच सकते हैं। हम

---

* ब्रह्माजी देवताओं से कह रहे हैं—"देवताओ! वे सनकादि मुनीश्वर जगत्गुरु श्रीहरि के निवास स्थान उस वैकुण्ठधाम में पहुँचे जो सम्पूर्ण भुवनों का एकमात्र वन्दनीय है, जो वैकुण्ठवासी जनों के विचित्र विमानों से विभूषित है। उस परम दिव्य और अद्भुत लोक में पहुँच कर उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ।"

लोगों के पास न योग शक्ति है, न तुच्छ सांसारिक सम्पत्ति ही। फिर भी मन रूपी रथ पर चढ़कर इन्हीं हेयातिहेय विषयों को सर्वसुख मानकर इनका एक काल्पनिक जगत् बनाते हैं। ऐसा करेंगे, यह सुख प्राप्त करेंगे उस वस्तु का संग्रह करेंगे, उससे यह कहेंगे, इस प्रकार सुखी होंगे। होना जाना कुछ नहीं, केवल मनमोदक खाते-खाते लार बहाते रहते हैं। कोई कहे तुम इन झूठे काल्पनिक विचारों को छोड़ क्यों नहीं देते, तो हम पर वे—झूठे विचार मन से ही उत्पन्न किये हुए मानसिक मिथ्या भोग—ही नहीं छोड़े जाते, फिर भुक्ति मुक्ति की स्पृहा का त्यागना तो बहुत दूर की बात है। जब तक सर्वात्मभाव से अपने "अहं" को त्यागा नहीं जाता, तब तक भगवत् साक्षात्कार होता नहीं। भगवत् साक्षात्कार होने पर अपना अहं रहता नहीं। भगवदीयों को या तो कभी अहंकार आता नहीं, यदि कभी भूल से भगवत् इच्छा से आ भी जाता है, तो प्रभु स्वयं ही लीला से हँसी-हँसी में उसका मूलोच्छेदन कर देते हैं। सनकादि तो नित्य शुद्ध मुक्त और माया से निर्लेप रहते हैं। किन्तु जब स्वयं मायापति ही अपनी अघटन घटनापटीयसी माया का आश्रय लेकर क्रीड़ा करना चाहते हैं, तब अपने लीलालोक में जिससे जो कराना चाहें, करा सकते हैं। सब उन्हीं के तो अङ्ग हैं। जब हम शैया पर सोते रहते हैं तब सभी इन्द्रियाँ निद्रा-सुख का शान्ति के साथ रसास्वादन करती रहती है। जब हम शैया त्यागकर चेष्टा और व्यापार करने को उद्यत हो जाते हैं, तो हाथों को इधर-उधर फटकारते हैं। पैरों को चलाते हैं। नेत्रों को घुमाते हैं, मुँह को मटकाते हैं। सभी स्वस्थ अंग अपने अंगी की आज्ञा का बिना विरोध किये पालन करते हैं। जो अस्वस्थ अङ्ग हैं, उनकी चिकित्सा करके उन्हें योग्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। जगत् भगवान् की क्रीड़ा है, वे इसके नियामक हैं और नित्य, मुक्त,

मुमुक्षु और बद्धजीव उनके यन्त्र हैं। जिसे जब जैसे चाहें घुमाते हैं। जिससे जो चाहें कराते हैं, कोई आपत्ति कर नहीं सकते। करें भी तो उनकी आपत्ति चल नहीं सकती।

भगवान की ही इच्छा से चारों कुमार बड़ी उत्सुकता से उनके दर्शनों के निमित्त वैकुण्ठ लोक को चले। प्रभु को आज इन्हें निमित्त बनाकर कुछ क्रीड़ा करनी है। कुछ चहल-पहल लड़ाई-झगड़ा शापाशापी का स्वांग रचना है। मर्त्यलोक के भक्तों के ऊपर कृपा करनी है। इसीलिए कुमार मन से भगवान का चिन्तन करते हुए, वाणी से गोविन्द गुन गाते हुए अपने अमित योगबल से वैकुण्ठ लोक में पहुँच गये।

वैकुण्ठ धाम की दिव्य मनोहर अवर्णनीय शोभा उनके मन को लुभा न सकी। उन्होंने इधर-उधर नहीं देखा, सीधे दिव्य विमानों की श्रेणियों को पार करते हुए वे वैकुण्ठपति भगवान् विष्णु के परमधाम की ही ओर बढ़ने लगे। सम्मुख ही उन्होंने भगवान् के मणिमय महल का विदूर्य मरकत आदि मणियों से युक्त विशाल गोपुर (प्रधानद्वार) देखा जो कि शंख चक्र आदि दिव्य आयुधों के चिह्नों से चिह्नित था और जिसके ऊपर विशाल गरुड़ध्वजा फहरा रही थी। बहुत से वैकुण्ठवासी भृत्य, सेवक और दौवारिकों की वहाँ भीड़ थी। सहस्रों विमान इधर-उधर घूम रहे थे। विशाल राजपथों पर कल्पवृक्ष के पुष्पों की मनमोहक सुगन्धि आ रही थी, चारो ओर दिव्य सुगन्धित जलों का छिड़काव हो रहा था सभी शंख चक्र आदि धारण किये पीताम्बर पहिने विष्णु भगवान् के समान ही इधर से उधर आ जा रहे थे। हाथ में वेत्र लिये शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये द्वारपाल खड़े थे। सनकादिकों को तो कोई शंका थी ही नहीं। उनकी तो सर्वत्र समान दृष्टि थी उनके लिये अपने पराये का भेद भाव ही नहीं था। भगवान् वैकुण्ठनाथ उनके पिता के भी पिता हैं।

वैकुण्ठ धाम उनका घर है। भगवान् सभी के सुहृद हैं, पिता हैं, माता हैं। सर्वस्व हैं। उनका घर अपना घर है। पूछा-पाछी दूसरों के घर में होती है। शंका संदेह से होती है। बच्चा अपने घर में घुसता है, निकलता है, उसे किसी सेवक से पूछना नहीं पड़ता। सनकादि मुनि भी निःशंक होकर भीतर घुस गये। किसी ने इन्हें रोका ही नहीं। पाँच वर्ष के होने पर भी वे सब इतने तेजस्वी थे, कि किसी का कुछ पूछने का साहस ही नहीं हुआ। पहिली ड्योढ़ी को नांघकर वे दूसरी पर, दूसरी से तीसरी पर, तीसरी से चौथी पर, इस प्रकार ६ ड्योढ़ियों को वे बिना रोक-टोक, बिना किसी से पूछे-ताछे आनन्द पूर्वक पार कर गये।

जब वे सातवीं ड्योढ़ी पर पहुँचे, तब तो उन्होंने इधर-उधर बड़ी सावधानी से खड़े हुए भगवान् के प्रधान पार्षद् जय और विजय को देखा। उनकी वेषभूषा, रूप लावण्य सब भगवान् के ही तुल्य था। वे चरण पर्यन्त लम्बायमान वनमाला को धारण किये थे। जिन पर वैकुण्ठ के कल्प वृक्षों के मधुसौरभ के लंपट मधुकर गुञ्जार कर रहे थे, जिनके माथों पर महामूल्य मणिमय मुकुट शोभायमान था। कानों में कनक के मकराकृत कुण्डल दमक रहे थे। सम्पूर्ण अंगों में दिव्य वस्त्राभूषणों में के रत्न चमक रहे थे। हाथ में गदा लिये वे कुछ गंभीर से दिखाई दे रहे थे। उनकी चेष्टा अन्य द्वारपालों की-सी नहीं थी। उनकी आँखों में रोष के कारण लाल-लाल डोरे पड़े हुए थे। उनकी भृकुटि कुछ चढ़ी हुई थी, नासिका के रंध्र कुछ टेढ़े होकर फड़क रहे थे। माथे पर बल पड़ रहा था और मुख म्लान होने के कारण क्षुब्ध-सा दिखाई देता था।

कुमारों ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया और वे बिना पूछे ही इस ड्योढ़ी के दरवाजे में भी उसी प्रकार घुसने लगे, जिस प्रकार अन्य दरवाजों में घुसते हुए यहाँ तक आये थे, किन्तु यहाँ

वे घुसने नहीं पाये। यहाँ के द्वारपालों ने बेंत अड़ाकर उन्हें भीतर जाने से रोक दिया। यह आचरण इन ब्रह्मज्ञानी मुनियों के अनुरूप नहीं था। इन ब्रह्मज्ञानी मुनियों को, जो सभी पूर्वजों के पूर्वज हैं, सभी के वन्दनीय पूजनीय और आदरणीय हैं, उन्हें इस प्रकार अपमान पूर्वक रोक देना उचित नहीं था।

यद्यपि ये काम क्रोध आदि विकारों से रहित थे, फिर भी न जाने काम का छोटा भाई क्रोध इनके हृदय में कहाँ से आ गया? ये उसी के वश में हो गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक तो सनकादि मुनि ही सर्वथा काम क्रोध से हीन हैं। मान लो, किसी कारण उन्हें जगत् में क्रोध आ भी सकता है, किन्तु भगवान् के वैकुण्ठ-धाम में जहाँ काम क्रोध का प्रवेश तक नहीं, वहाँ उन्हें क्रोध कैसे आ गया? वहाँ क्रोध का प्रवेश हो कैसे गया?"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! सनकादियों को अपने किसी स्वार्थ पर क्रोध नहीं आया और न उन्हें अपने अपमान से क्रोध हुआ। उन्हें तो इस बात से क्रोध आया, कि यह हमारे भगवन् दर्शनों में विघ्न कर रहे हैं। हम तो शीघ्र श्रीहरि के चरणारविन्दों का दर्शन करना चाहते हैं, ये हमें चरणों में जाने से रोक रहे हैं, हमारे दर्शनों में विघ्न डाल रहे हैं। उनका क्रोध भगवान् के सम्बन्ध को लेकर था। भगवान् के सम्बन्ध से तो सभी श्लाघनीय हैं। इसलिये इनका क्रोध अपने निजी कार्य के लिये नहीं था। अब रही यह बात कि वैकुण्ठ में क्रोध पहुँच कैसे गया? सो मुनियो! वहाँ का क्रोध संसारिक क्रोध नहीं था, वह दिव्य ही था। उसमें एकमात्र भगवान् की इच्छा ही कारण कही जा सकती है। उन्हें लीला करनी थी। उसी के लिये रंगभूमि का यह उपोद्घात् था। उनकी इच्छा तो पहिले से ही थी, उसे इस रूप में प्रकट किया।"

शौनकजी कहने लगे—"सूतजी ! भगवत् इच्छा, उनकी क्रीड़ा, लीला—ये ऐसे शब्द हैं, कि आस्तिक लोग इनके आगे कुछ कह ही नहीं सकते। हाँ तो फिर क्या हुआ ?"

सूतजी कहते हैं—"देवताओं के पूछने पर ब्रह्माजी फिर उसी प्रकार कहने लगे—"देवताओ ! जब जय विजय नामक

द्वारपालों ने मेरे मानसिक पुत्र सनकादिकों को रोक दिया, तो भगवत् दर्शनों में अन्तराय के उपस्थित करने वाले उन दोनों द्वारपालों पर उन्हें सहसा क्रोध आ गया। इस प्रकार का क्रोध होना अभूतपूर्व था, कभी उन्हें किसी पर क्रोध नहीं आया। उन्होंने उन दोनों को डाँटते हुये कहा—"क्यों रे! तुम लोग भगवान् के लोक में आकर—भगवान् के इतने सन्निकट रह-कर—भी अशिष्ट ही बने रहे। जिसने भली प्रकार भक्तिभाव-पूर्वक भगवत् परिचर्या नहीं की है, वह इस लोक में आ ही नहीं सकता और जो भगवत्भक्त है, वह कभी किसी के साथ कठोर बर्ताव कर नहीं सकता। दीनता, नम्रता, सरलता, ऋजुता तथा मृदुता यही तो भक्तों के भूषण हैं। भक्तों में भगवान् के सभी गुण आ जाते हैं। भगवान् का कितना शान्त स्वभाव है और तुम कितने उद्धृत और विषम व्यवहार करने वाले हो?"

उन्होंने अधिकार के स्वर में कहा—"महाराज! हमने क्या विषमता की? द्वारपाल रखे ही इसीलिए जाते हैं, कि वह किसी को न जाने दें, जो जाने योग्य होवें वे ही भीतर जा सकें। आप लोग नंग-धड़ंगे बेधड़क बिना पूछे चले जा रहे हैं आप उल्टे हमें ही डाँटते हैं।"

सनकादिकों ने कठिन-स्वर में कहा—"शंका होती है पाप से यहाँ भगवन् भक्ति से शून्य पुरुष तो आ ही नहीं सकता। जिसने भगवान् के साथ आत्मीयता प्राप्त नहीं की है, वह गोपुर के भीतर प्रवेश ही नहीं कर सकता। तुम स्वयं कपटी हो, इसलिये दूसरों को भी कपटी समझते हो। इसीलिये तुम्हारी ऐसी भेद बुद्धि है। यही सोचने की बात है, ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा में सब भूतों को तथा सब भूतों को अपनी आत्मा में ही देखते हैं, फिर भगवान् के विषय में तो कहना ही क्या? उनके यहाँ तो भेद-भाव का काम ही नहीं।"

इस पर जय विजय लाल-लाल आँखें करके बोले—"भेद-भाव तो आप ही स्वयं कर रहे हैं। हमें तिरस्कृत समझकर अपने को ही श्रेष्ठ मानते हुये हमारा अपमान कर रहे हैं। हम आपकी बातों से डरने वाले नहीं हैं। आप बिना आज्ञा के भीतर नहीं जा सकते।"

उन दोनों को इस प्रकार काम क्रोध के वशीभूत देखकर उनके कल्याण के ही निमित्त-कुपित हुए मुनियों ने उसी समय उन्हें शाप देते हुए कहा—"तुम दोनों मन्दमति हो। तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अतः हम तुम्हारे हित के ही लिये तुम्हें यह शाप देते हैं, कि. अब तुम इस लोक में रहने योग्य नही रहे। तुम्हारे हृदय में आसुरी भाव आ गया है, अतः तुम अभी आसुरी योनि में प्राप्त होकर उस लोक में गिर जाओ जहाँ के लोग काम, क्रोध और लोभ के अधीन रहते हैं, क्यों कि बिना भेद बुद्धि के काम क्रोधादि होते नहीं। अतः तुम्हारा इस लोक से तुरन्त पतन हो जाय।"

अब तक तो जय विजय अपने द्वारपाल होने के मद में थे। शाप सुनते ही उनका मद शान्त हो गया। उन्होंने समझ लिया ब्रह्म शाप अमोघ होता है। यह किसी भी साधन से टाला नहीं जा सकता। अतः उन दोनों ने अत्यंत कातर भाव से दौड़कर व्याकुलता के साथ मुनियों के पैर पकड़ लिये। उनके पादपद्मों की रज में लोटते हुए अत्यन्त दुःख के साथ रोते-रोते वे कहने लगे—प्रभो! हमें आपका शाप स्वीकार है। शाप क्या है, यह हमारे ऊपर अनुग्रह है। इस दंड से हमारे मद का नाश होगा। भेद बुद्धि दूर होगी भगवान् की आज्ञा उल्लङ्घन रूपी पाप का प्रायश्चित हो जायेगा। इनमें सभी प्रकार हमारा कल्याण ही कल्याण है। किन्तु हे करुणा वरुणालय मुनियो! हमारी एक भीख है। वह यह कि हम भले ही असुरी अधम योनि में जायँ, किन्तु भगवत् स्मृति

सदा बनी रहे। किसी भी भाव से सही, हम क्षण भर को भी भगवान् को न भूल सकें। कृपा करके यह वरदान हमें और देते जायँ।"

भगवान् के प्रधान पार्षदों के मुख से शाप के बदले में ऐसे दीनता पूर्ण वचन सुनकर सनकादिक मुनिगण तो हक्के-बक्के से रह गये। उन्हें अब चेत हुआ, वे उन वैकुण्ठ के परम माननीय पार्षदों को देखते के देखते रह गये।

छप्पय

छै ड्योढ़िनि कूँ लाँघि सातवीं पै पहुँचे सब।
दौवारिक है कुपित लखे कर वेत्र लिये तब॥
ज्यों ई भीतर घुसे तुरत तिननें ते टोके।
मुनि बोले करि क्रोध क्रूर कस हम सब रोके॥
भू पै जनमो दैत्य है, फिर ऐसो न करो कहीं।
सुन्यो शाप पग परि कहें—हों, परि हरि बिसरें नहीं॥

श्रीहरि का नंगे पैरों आगमन

[१३८]

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः,
स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीना—
मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १५ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

दया सिन्धु ने सुनी ब्रह्म मानस सुत आये।
अपमानित है शाप दयो सुनिकें घबराये॥
नंगे चरननि चलें चरनदासी हूँ त्यागीं।
छत्र चँवर ले भृत्य भगे कमला सँग लागीं॥
जिन चरननि की चाह महँ, चारों चंचल चित भये।
मुनि ध्यावें हियमहँ जिन्हें, करि नंगे तिनकूँ गये॥

किसी कारण से कुपित हुए पुत्र को सुनकर सत् पिता कोप नहीं करता, किन्तु उसे प्रसन्न करने का उपाय सोचता

* ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ ! इधर श्रेष्ठ पुरुषों के पूजनीय पद्मनाभ भगवान् पुरुषोत्तम ने जब सुना, कि मेरे सेवकों ने सनकादि मुनियों का तिरस्कार किया है, तो उसी समय नंगे पैरों ही लक्ष्मीजी को साथ लिये हुए 'बिना सवारी' ही उन्हीं चरणों से चलकर वहाँ आये, जिनका अन्वेषण परमहंस महामुनि सदा करते रहते हैं।"

है। अन्य पुरुषों की अपेक्षा पुत्र को प्रसन्न करना पिता ही अधिक जानता है। पिता से भी कुपित पुत्र प्रसन्न न हो, तो उसे माता प्रसन्न कर लेती है। स्नेहमयी माँ के समान रूठे हुए पुत्र को मनाने की विधि संसार में कोई नहीं जानता। कोई पुत्रवत्सला माँ अपने नन्हें से नटखट चञ्चल पुत्र को पति की गोदी में सौंपकर जल लेने यमुना जी चली गई। पुत्र तो हठी ठहरे, रोते-रोते उसने कहा—"मैं तो गुड़ लूँगा।"

पिता ने आँवले के बराबर गुड़ लाकर दिया। सिर हिलाते हुए सुत ने कहा—"नहीं, मैं तो बहुत-सा लूँगा।"

पिता ने गूलर के समान दिया। सुत ने फिर सिर हिलाया—"मुझे तो बहुत चाहिये।" आम के समान, विल्व के समान, अन्त में कोहड़े के समान दिया। किन्तु पुत्र बार-बार कहता रहा मुझे तो बहुत चाहिये। दोनों में थोड़े बहुत का विवाद हो रहा था इतने में माता ही पहुँच गयी। हँसकर बोली—"बाप बेटे में क्या झगड़ा हो रहा है ?"

पिता ने कहा—"तुम ही निर्णय करो यह बहुत माँगता है।"

माता हँस पड़ी। उसने एक छोटी एक उससे बड़ी दो डेली उठाकर कहा—"इनमें से एक ले लो। बच्चे ने हँसते-हँसते बड़ी ले ली और प्रसन्न हो गया।"

इसी प्रकार संसार में न कुछ बड़ा है न छोटा। यह छोटा बड़ापन अपेक्षाकृत है। यह इससे बड़ा है, यह इससे छोटा है। भगवान् तो माता-पिता दोनों ही हैं। वे कैसा भी कुपित पुत्र क्यों न हो, उसे भी अपनी मोहक वाणी से प्रसन्न कर लेते हैं। जब किसी पर अपना प्रेम प्रदर्शित करते हैं, तो भगवान् कह देते हैं—"मैं ब्रह्मा को जो मेरे पुत्र हैं उन्हें उतना प्यार नहीं करता, लक्ष्मीजी मेरी प्राणप्रिया हैं, उनसे उतना स्नेह नहीं करता, शेषजी जो सदा मेरी शैया बनकर सेवा में समुपस्थित रहते हैं,

उन्हें भी उतना नहीं चाहता, जितना तुम्हें चाहता हूँ, तुम्हें प्यार करता हूँ।" इतना सुनते ही भक्त के रोम-रोम खिल जाते हैं, वे श्यामसुन्दर के सदा के लिये क्रीतदास बन जाते हैं। भगवान् इन बातों को बनावटी कहते हों, सो बात नहीं। यहाँ भक्त की, शरणागत की तारतम्य से उत्कृष्टता बताने से अभिप्राय है। अर्थात् ब्रह्माजी मुझसे उत्पन्न हुए मेरे पुत्र हैं, लक्ष्मीजी मेरी अर्धाङ्गिनी पत्नी हैं, किन्तु ये मुझे पुत्रत्व, पत्नीत्व इस सम्बन्ध से प्रिय नहीं। ये सदा मुझे चाहते रहते हैं, इसीलिये प्रिय हैं। मुझे शरणागत सबसे अधिक प्रिय हैं। यही इस कथन का अभिप्राय है। जिसने शरणागत धर्म का पालन न किया हो, जो प्रपन्न न हुआ हो, जिसने सर्वधर्म समर्पण पूर्वक श्यामसुन्दर की श्रद्धा सहित सेवा न की हो, वह वैकुण्ठ में आ ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ तो सबके सब शरणागत भक्त ही हैं, सनकादिक भी शरणागत के प्रभाव से ही यहाँ तक आ सके हैं, किन्तु आज वे कुपित हैं, नये ही नये आये हैं। नये के ऊपर पुराने की अपेक्षा अधिक प्यार होता है। नये वत्स के पैदा हो जाने पर गौ सबसे पहिले दौड़कर उसी को चाटती चूमती है। इसी बात को दर्शाते हुए ब्रह्माजी देवताओं को भगवान् की भक्तवत्सलता सुना रहे हैं।

ब्रह्माजी बोले—"देवताओ! जब भगवान् वैकुण्ठनाथ ने सुना कि, सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों ब्रह्माजी के पुत्र मेरे चरणों के दर्शन को आ रहे थे, बीच में ही क्रोध करके मेरे प्रधान पार्षद जय विजय इन दोनों ने उन्हें रोक दिया, इस पर उन्होंने कुपित होकर उन्हें शाप दे दिया तो लक्ष्मीनाथ बड़े घबड़ाये। तुरन्त अपने अमूल्य मणि जटित आसन से यों ही उठकर नंगे पैरों, पैदल ही चल दिये। इस प्रकार व्यग्रभाव से भगवान् को जाते देखकर लक्ष्मीजी उनके सङ्ग-सङ्ग चल दीं और सेवक चँवर छत्र लिए पीछे-पीछे दौड़े गरुड़जी ने भी जब

देखा, कि आज गोविन्द बिना मेरा स्मरण किये ही चले गये, तो अवश्य कहीं कुछ गड़बड़ हो गई है, वे भी भगवान् के समीप आकर उन्हें प्रणाम करके उनके पार्श्व में चलने लगे। उस समय की श्रीहरि की शोभा अवर्णनीय थी। दोनों ओर दो श्वेत चँवर उसी तरह चल रहे थे, मानों दो राजहंस लीलापूर्वक पंख फट-फटा कर लड़ रहे हों। अथवा भक्त और भगवान् की कीर्ति दो मूर्ति बनाकर परस्पर में होड़ लगा रही हों, कि कौन किसे पराप्त करती है। अथवा दो चन्द्रमा अपनी समस्त शीतल किरणों के साथ परस्पर में विवाद करते चल रहे हों, कि कुपित हुए मुनियों को हम शान्त कर देंगे। सेवकों ने भगवान् के उत्तमाँग के ऊपर अत्यन्त दर्शनीय मनोहर श्वेत छत्र लगा रखा था। जिसमें नील रङ्ग की गोट के नीचे मोतियों की झालर झलमल-झलमल करती हुई हिल रही थी, मानों विस्तृत हुए चन्द्र अपनी किरणों से अमृत विन्दुओं की वर्षा कर रहे हों, अथवा दिव्य-श्वेत कमल के कोप से ओस के कण टपक रहे हों। अपने सभी चतुर्भुज सेवकों से घिरे हुए भगवान् आगे-आगे जा रहे थे। उनकी बाईं ओर लजाती हुई, इठलाती हुई क्रीड़ा कमल को घुमाती हुई भगवती कमलादेवी उनके पीताम्बर को पकड़े हुए चल रही थीं। दाईं ओर गरुड़जी मुँह लटकाये चिन्तातुर चल रहे थे। पता नहीं, उन्हें अपनी उपेक्षा की चिन्ता थी या अपने साथी जय विजय पार्षदों के वियोग का दुःख था। भगवान् ने अपना कमनीय कंकण से विभूषित करकमल उनके कंधे पर रख लिया था। दूसरे हाथ में कमला ने एक कमल दे दिया था। वह क्रीड़ा के लिये नहीं स्वभाव से ही घूम रहा था। अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त भगवान् व्यग्र थे, वे शीघ्र से शीघ्र पहुँचना चाहते थे, किन्तु एक तो पैदल चलने का अभ्यास नहीं, दूसरे हंसिनी की चाल को भी लज्जित करने वाली लक्ष्मी

उनका पल्ला पकड़े हुए थीं। गरुड़जी उनके सम्मुख कुछ कह नहीं सकते थे। अतः भगवान् के चरणारविन्दों का अनुसरण करते हुए, वे भी अपनी चाल को उनकी चाल में मिलाये हुए थे। पीताम्बर से ढके हुए उनके विशाल नितम्बद्वय पैदल चलने से आगे पीछे हिल रहे थे, जिससे उनके ऊपर पड़ी अपनी प्रभा से झिल-मिलाती हुई दिव्य करधनी खन-खन शब्द कर रही थी विशाल वक्षःस्थल में पड़ी हुई मणिमुक्ता की मालायें तथा दिव्यहार वनमाला से उलझकर लड़ रही थीं। विद्युत प्रभा को भी लजाने वाले उनके लोल-कपोल मकराकृत कुण्डलों की कान्ति और अपनी चमक-दमक से दशों दिशाओं को रक्त वर्ण की बना रहे थे। उन्नत नासिका में लटका हुआ मोती झोंटे खा रहा था, मानों भगवान् को इतनी व्यग्रता करने के लिये रोक रहा हो। महामूल्यवान् मणिमय मुकुट के चाकचिक्य से चारों ओर चकाचौंध-सा हो रहा था। मानो सौंदर्य ही साकार रूप बनाकर कुपित मुनियों को शान्त करने जा रहा हो, उनके सौंदर्य के सम्मुख मानों लक्ष्मीजी का सौंदर्य गलित हो गया हो, और पराजित होकर क्रीतदासी की भाँति उनके पीछे-पीछे जा रही हों। इस प्रकार अनुपम शोभा से युक्त श्रीहरि सनकादिक मुनियों के समीप पहुँच ही तो गये।"

भक्तवत्सल भगवान् को अपने सम्मुख ही देखकर सनकादिक मुनियों का कोप तुरन्त शान्त हो गया। वे हक्के-बक्के से होकर भगवान् के विचित्र सौन्दर्य के चकाचौंध से किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। वे यह निर्णय न कर सके, अब हमें क्या करना चाहिये? कुछ काल में वे स्वस्थ हुए, जिनका नित्य समाधि अवस्था में ध्यान करते थे, उन्हें प्रत्यक्ष अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर, अत्यन्त बढ़ी हुई उत्कंठा के साथ वे उन अरुण कमल

दल के समान कोमल पुनीत पादों में पड़ गये जो किसी भी पुण्य से प्राप्त नहीं हो सकते, केवल कृपा के द्वारा ही जिनका साक्षात् हो सकता है।

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ ! जिन चरणों का योगी जन अपने हृदय कमल में ध्यान करते हैं, जो चरण मेरे तथा महादेव जी के मन मन्दिर में सदा विराजमान रहते हैं, जिनके धोवन से

संसार को सर्वसिद्धि प्रदान करने वाली भगवती सुरसरी का प्रादुर्भाव हुआ है, जो तुम सब देवताओं के भी पूजनीय, स्मरणीय, अर्चनीय, वन्दनीय हैं, उन्हीं चरण कमलों में पड़ी मञ्जरी सहित तुलसी की गन्ध को सूँघकर वे मेरे मानस पुत्र अत्यन्त ही हृष्ट हुए। उनके सभी संताप दूर हो गये। चिरकाल की लालसा पूर्ण हुई। नेत्रों ने आज ही अपनी सफलता समझी योग, ध्यान, समाधि की सार्थकता भगवद्दर्शनों से ही पूरी हुई। चिरकाल तक वे चरणारविंद के मकरन्द का मत्त होकर पान करते रहे। पुनः चरणों से दृष्टि हटाकर उन्होंने क्रमशः ऊरु, जङ्घा, कटि, उदर, हृदय, विशाल भुजाओं और शङ्ख के समान सुन्दर ग्रीवा आदि के दर्शन किये। इसके अनन्तर उनकी श्रीमुख की ओर दृष्टि गई, जो कि मानों अनुग्रह रूपी अमृत ही जमकर ऐसी आकृति वाला बन गया है, जिसमें कृपा ही कटाक्ष होकर निवास करती है। उन रसीले रङ्गीले युगल नयनों को देखकर उनके सभी दुःख दूर हो गये उन्नत नासिका और लोल कपोलों की आभा से वे आनन्द के सागर में मग्न हो गये। जिसमें अति मनोहर कुँदरू के फल सदृश अरुण अधर शोभायमान हैं, जिन पर कुन्दकली के सदृश शुभ्र हास की छटा छिटक रही है। विकसित नील कमलिनी पर सोई हुई विद्युत के समान आभा वाले उस अद्भुत आनन को निहारकर वे चारों कुमार अपने आपे में नहीं रहे। आत्मविस्मृत होकर सुख सागर में डूब गये। उसी श्रीमुख के ध्यान में तन्मय हो गये।"

फिर सोचा—"अरे, जो प्रत्यक्ष सगुण साकार रूप से हमारे सम्मुख खड़े हैं उनका नेत्र बन्द करके ध्यान क्या करना, अतः वे दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर बड़ी ही श्रद्धा भक्ति के सहित गद्गद् कंठ से भगवान् की स्तुति करने लगे।"

प्रभो! हम आपके पुत्र के भी पुत्र हैं, हम आपको प्रणाम

करते हैं। अपने पिता के मुख से हम आपके सौन्दर्य-माधुर्य की प्रशंसा सुनकर समाधि में नित्य उसी रूप का ध्यान करते थे, किन्तु यह प्रत्यक्ष तो आज ही हुआ। आप सबके सम्मुख प्रकट नहीं होते, साधनों द्वारा नहीं कृपा के ही द्वारा आप प्राप्त होते हैं, दुष्ट चित्त वाले तो आपका मन से ध्यान तथा वाणी से नाम कीर्तन भी नहीं कर सकते. उनकी दृष्टि से तो आप सदा ओझल ही रहते हैं। संसार के सभी जीवों का योग-क्षेम वहन करना भोगियों को भोग देना, मोक्षार्थियों को मुक्ति प्रदान करना तो आपका सहज कार्य है। यह तो आपके द्वारा बिना प्रयत्न के ही स्वतः होता रहता है।

भगवान् मुस्कराये और स्नेह दृष्टि की वृष्टि करके प्रेम रूपी अमृत वारि से उन्हें प्लावित करते हुए अत्यन्त ही ममता के स्वर में बोले—"कुमारो! तुम क्या मुझसे मुक्ति माँगना चाहते हो?"

यह सुनकर कुमारों ने कहा—"प्रभो! हम मुक्ति माँगकर अपने को ठगना नहीं चाहते। सूर्य की आराधना करके और उससे प्रार्थना करें कि आप हमारे भवन में चलकर कृपा पूर्वक हमारे यहाँ का अंधकार दूर कर दें, तो कैसी मूर्खता होगी। सूर्य देव के पधारते ही अन्धकार तो आप से आप ही भाग जायगा। न माँगने पर भी अन्धकार उनके सम्मुख रह ही नहीं सकता। उनसे याचना तो किसी अमूल्य मणि का करनी चाहिये। अन्धकार दूर होना तो उनकी कृपा का प्रासङ्गिक फल ही है। इसी प्रकार आपसे मुक्ति की भी याचना क्या करनी आपके दर्शनों से मुक्ति तो आप से आप संग से ही प्राप्त हो जाती है। हमें तो आप अपने अनन्त चरण कमलों की अहैतुकी भक्ति प्रदान करें। परन्तु प्रभो! हम प्रार्थना किस मुख से करें। हम तो वरदान के अधिकारी ही नहीं रह गये हैं। हमसे तो एक बड़ा भारी अपराध बन गया है।"

जानते हुए भी अनजान की भाँति भगवान् पूछने लगे—"कुमारो! तुम कैसी बातें कह रहे हो? तुमसे और अपराध! काम क्रोध तो तुम्हारे पास भी नहीं फटक सकते। सब अपराध काम के ही द्वारा होते हैं?"

दीनता के स्वर में कुमारों ने कहा—"महाराज! वही हो गया, हमसे। हमें क्रोध आ गया, हमने क्रोध में आकर महान अनर्थ कर डाला।"

व्यग्रता के स्वर में भगवान् ने कहा—"क्या हुआ? कौन-सा अनर्थ हो गया?"

आँसू बहाते हुए कुमारों ने कहा—"इन दोनों द्वारपालों के रोकने पर हमने व्यर्थ में ही इन्हें भयंकर शाप दे दिया।" इनको क्या शाप दिया। आपका अप्रिय कार्य किया। हम बड़े अपराधी हैं। प्रभो! हमें आप दण्ड देकर पाप से बचा लें। हमें आप नरक में भेज दें। कूकर योनियों में भेज दें। बुरे से बुरे लोकों में अनन्त काल तक डाल दें। किन्तु प्रभो! न्याय करते समय तनिक अपनी कृपालुता का भी स्मरण कर लें। अपराध तो हमारा ऐसा है कि उसमें दया कृपा के लिये स्थान नहीं। किन्तु आप हमारे अपराधों की ही ओर न देखें, अपने विरुद्ध का ध्यान रखकर हमारे ऊपर इतना अनुग्रह करें, कि किसी भी योनि में जायँ, किसी भी लोक में रहें, हमारा मन मधुप सदा आपके चरणारविन्द के मकरन्द पान में ही आसक्त बना रहे। वाणी सदा आपके सुमधुर ललित मधुमय नामों का ही गान करती रहे। कर्ण सदा आपकी ही कमनीय कथा और कीर्तन को ही श्रद्धा से श्रवण करते रहें और शरीर सदा आपकी सेवा तथा कैंकर्य में ही संलग्न रहे। इतना होने पर आप हमें जिस योनि में भी भेजें, जो भी दंड दें, वह सब स्वीकार है। हे पुण्यश्लोक शिरोमणि! हे विपुल कीर्तिशाले प्रभो! यद्यपि हम निर्गुण

निराकार अक्षर ब्रह्म के उपासक थे, किन्तु आज आपकी इस अमित ऐश्वर्य शालिनी मूर्ति के दर्शनों से हम सब कुछ भूल गये। हम तो इसी अद्भुत और अनुपम रूप को बार-बार प्रणाम करते हैं।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओं! इस प्रकार जब कुमारों ने वैकुण्ठपति भगवान् रमावल्लभ श्रीमन्नारायण की स्तुति की तो वे सब बातों को तो अनसुनी-सी कर गये। पर उन्हें एक दो बात बार-बार खटकने लगी, कि मेरे पार्षदों ने मेरे इतने प्रेमी भक्तों को मेरे पास आने से रोक दिया। इस बात के स्मरण से ही उनका कमल के समान विकसित श्रीमुख गम्भीर हो गया और वे अपराधी की भाँति कुछ लज्जित से होकर कुछ द्वारपालों पर कुपित से होकर कुछ कहने को उद्यत हुए।"

छप्पय

गरुड़ कन्ध कर धरें कोटि मन्मथ मन मोहें।
पद्मा पद्म घुमाय संग विद्युत सम सोहें॥
अस्त व्यस्त पग परें अनुग्रह हित अति आतुर।
प्रेम स्रोत बहि चल्यो हियो करुणा तें कातर॥
नयननि महँ संजीवनी, अंजन रंजन सो करत।
सम्मुख निरखे मुनिनि हरि, शशि सम तम हियको हरत॥

भगवान् की भक्त वत्सलता

(१३९)

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः,
सद्यः पुनाति जगदा श्वपचाद् विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति—
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥❀
(श्रीभा० ३ स्क० १६ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

लखि हरि रूप अनूप मुनिनि के भव भय भागे ।
चरण कमल महँ परे विकल ह्वै रोवन लागे ॥
क्षमा प्रार्थना करी कह्यो सब दोष हमारो ॥
किन्तु कृपानिधि कहैं कियो अपराध तिहारो ॥
करयो मलिन जय विजय ने, मुनियो ! मेरो अमल यश ।
अज्ञ न जाने मर्म मम, पराधीन हो भक्तवश ॥

❀ श्री भगवान् सनकादिक मुनियों से कह रहे हैं—"कुमारो ! जो मेरे अमल यश रूपी अमृत रस में श्रवणों द्वारा स्नान करते हैं, वे लोग फिर चाहे चांडाल ही क्यों न हों, तुरन्त पवित्र हो जाते हैं, इसलिये मेरा नाम वैकुंठ है। किन्तु मुझे यह महान् कीर्ति आप ब्राह्मणों के ही द्वारा प्राप्त हुई है। आप ही इस सम्मान के देने वाले हैं, अतः जो आपके प्रतिकूल आचरण करेगा, उसे मैं तुरन्त काट डालूँगा, फिर चाहे वह मेरा हाथ ही क्यों न हो।"

जीव को भगवान् की भक्तवत्सलता का पता नहीं। पता होता, तो यह अनित्य और क्षणभंगुर भोगों में व्यग्र हुआ क्यों इधर से उधर भटकता रहता ? क्यों नहीं उन संसार के एक मात्र शरण्य की ओर बढ़ता ? जीव किसी प्रकार भी किसी भाव से भी भगवान् की ओर चलता है, तो वे भी उसकी ओर चलते है। जीव उन्हें पाने को एक पग बढ़ता है, तो वे ९९ पग बढ़कर उसके समीप आ जाते हैं। भगवान ऐसा क्यों करते हैं ? क्योंकि वे पुण्यश्लोक सुतीर्थ कीर्ति हैं। उन्हें अपनी कीर्ति बहुत प्यारी है। अपकीर्ति से वे डरते हैं। अजामिल ने कोई तरने योग्य कार्य तो किया नहीं, लोगों को बाँधता था, चोरी करता था, हिंसा करता था, शूद्रा के साथ सहवास करता था। उसने जाति, धर्म, कुल-धर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म सभी का परित्याग किया था। भूल में बहाने से अभ्यास वश बिना संकल्प छोटे पुत्र को पुकारा। संयोग से वह वैकुण्ठनाथ का नामारासी था। नारायण कहकर पुकारा। अब भगवान् घबड़ाये – मेरा नाम लेकर भी इसकी दुर्गति हुई, तो सब मुझे छी-छी करेंगे। अरे नारायण कहकर भी नरक भोग रहा है। शीघ्रता के साथ दूतों को भेजा। देखना यम-दूत उसे न ले जायँ। गृद्ध तो सदा ऐसे अमेध्य पदार्थों को खाता रहा जिनका स्मरण करना भी पाप है। किन्तु उस दीर्घदर्शी पक्षी ने सम्बन्ध जोड़ लिया भतीजे का। भगवान् भयभीत हुए। कहीं चाचाजी नरक में गये तो लुटिया डूब जायगी। इसलिये उसे सीधा अपने धाम को पहुँचाया। व्याध ने उनके चरणों में बाण ही मारा था, उसको निमित्त बनाकर तो भगवान् ने अपने श्रीअंग का परित्याग किया, भगवान् ने सोचा—मेरी प्रसिद्धि ऐसी है कि मैं जिसे मारता हूँ, वह मुक्त हो जाता है। किन्तु मारने वाला नरक गया, तो लोग कहेंगे—"अजी मरने पर तो साधारण लोग भी वैर भाव नहीं मानते। भगवान् ने अपने अनुरूप काम नहीं

किया। इसी डर से व्याध को उत्तम लोक प्रदान किये। पूतना विष पिलाने आई भी माता बनकर। आपने सोचा—माता बनने वाली की भी दुर्गति हुई, तो बात बिगड़ जायगी। तनिक-सी बात से सब इतनी बढ़ी हुई कीर्ति नष्ट हो जायगी। इसलिये उसे भी माता की गति प्रदान की। आप कहेंगे कि यदि भगवान् अपनी कीर्ति के ही लिये करते हैं, तो हम में और उनमें फिर क्या अन्तर रहा, संसार में लोग तो कीर्ति के लिये फाँसी पर चढ़ जाते हैं। अन्तर क्या रहा? वे महान् हैं, हम क्षुद्र हैं। उनकी कीर्ति स्थाई शाश्वत सत्य है। हम इन संसारी क्षणभंगुर नाशवान पदार्थों के द्वारा कीर्ति स्थापित करना चाहते हैं। शाश्वती कीर्ति तो श्रीहरि के शरण में ही है, वे कीर्ति स्वरूप हैं। उनकी ओर बढ़ते ही जीव के सब अनिष्ट दूर हो जाते हैं। कुमारों ने उनके महलों में एक पैर रखा था, सो भी बीच में प्रबल पराक्रमी दो द्वारपालों ने रोक दिया जब कुमार अवश हो गये, अपने पुरुषार्थ से भीतर जाने में असमर्थ हो गये, हरिदर्शन के भूखे-प्यासे ब्राह्मण बाघ के समान हो गये, तो उनकी विवशता को देखकर भक्तवत्सल ब्रह्मण्यदेव वैकुण्ठनाथ स्वयं ही उनके समीप आ गये। जीव जहाँ तक जा सकता है जाय, पुरुषार्थ काम न दे वहाँ फिर हरि स्वयं आ जाते हैं।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ! जब सनकादिकों ने भगवान् की भाँति-भाँति से स्तुति की और सभी समाचार सरलता पूर्वक सुनाकर अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की तब अत्यन्त रोष में भरकर भगवान् ने कहा—"मुनियो! अब ये जय विजय इतने मदान्ध हो गये हैं, कि ये मेरा भी अपमान करने लगे हैं। ये इतने धृष्ट हो गये हैं, इन्होंने आप लोगों को रोककर बहुत बड़ा अपराध किया है।"

इस पर सनकादि मुनि बोले—"प्रभो! इन बेचारों का तो

कोई अपराध नहीं। द्वारपाल का कर्तव्य ही यह है कि असमय में अपरिचित आये हुए लोगों को स्वामी की आज्ञा बिना भीतर न जाने दे। अपराध तो उलटा हम लोगों ने ही किया है, कि अकारण इन्हें घोर शाप दे डाला।"

भगवान् उसी रोष के स्वर में बोले—"मुनियो! तुम कैसी बातें कह रहे हो? जो मेरे प्राणों से भी प्यारे हैं, जो संसार के सभी सुखों को छोड़कर, सभी ओर से मुँह मोड़कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ गये हैं, जिन्होंने मुझे ही अपना पिता, माता, सखा, सुहृद् गुरु, और सर्वस्व समझ लिया है, उनका अपमान करना, क्या मेरा अपमान करना नहीं है। माना कि मैं अकेला लक्ष्मीजी के साथ अन्तःपुर में था, किन्तु क्या लक्ष्मीजी मुझे तुम से अधिक प्यारी हैं?"

यह सुनकर लक्ष्मीजी का तो मुँह फक पड़ गया। सोचने लगीं—ये नंगधड़ंगे कहाँ से आ गये, कि भगवान् इनके पीछे मुझे भी तुच्छ समझ रहे हैं, किन्तु कुछ बोलीं नहीं। भगवान् ताड़ गये, आया था इन बालकों को मनाने, कहीं घरवाली रूठ जाय, तब तो लेने के देने पड़ जायँगे। बच्चा तो रो-धोकर थोड़ी देर में ठीक हो जाता है, रूठी हुई घरवाली को मनाना बड़ी टेढ़ी खीर है, रोटी ही न मिले सो बात नहीं, कभी कभी मुखपूजा और पीठ पूजा तक की नौबत आ जाती है। इसीलिये ये कहने लगे—"इन मूर्खों ने क्या समझ रखा है। ये समझते हैं मुझे अपना शरीर प्यारा है, मैं अपने अनुगत भक्तों के लिये शरीर को भी तुच्छ समझता हूँ। आप लोगों ने जो शाप दिया वह तो उचित ही किया मैं तो कहता हूँ शाप नहीं, इनका सिर काट देते तो भी कम था। इनकी बात तो अलग रही। मेरी बाहु भी यदि आप लोगों के विरुद्ध आचरण करे, तो मैं तुरन्त उसे काटकर फेंक दूँ। लक्ष्मीजी को संतोष हुआ कि भगवान् अपनी भक्तवत्सलता दिखा रहे हैं। मेरे अप-

ध्यान में उनका तात्पर्य नहीं है। अतः उनका मुखकमल कुछ-कुछ विकसित होने लगा। अपनी घरवाली को जो बात प्रिय लगती है उसे पुरुष और उत्साह से कहता है। अतः भगवान् कहने लगे—"इन लक्ष्मीजी के तनिक से कृपा कटाक्ष के लिए ब्रह्मादि देव करोड़ों असंख्यों वर्ष घोर तपस्या करते हैं कि, तनिक हमारी ओर दया की दृष्टि से देख भर दें, वे ही ये विश्ववन्दिता लक्ष्मी जी सदा मेरी सेवा में तत्पर रहती हैं। यद्यपि मुझे जैसा करना चाहिए वैसा मैं इनका आदर सत्कार नहीं करता, अनेकों काम धन्धे रहने से मैं इनकी ओर से उपराम-सा ही बना रहता हूँ, किन्तु ये मुझे त्यागती नहीं। क्षणभर को भी मेरा वियोग सहन नहीं कर सकतीं, छाया की भाँति मेरे पीछे-पीछे लगी डोलती हैं।"

यह सुनकर लक्ष्मीजी का मुखचन्द्र तो शरदकालीन कमल के समान खिल गया। किन्तु कुमार कुछ सकपका गये, भगवान क्या करना चाहते हैं, अतः बात को टालने के लिये कहने लगे—"महाराज ! जो हुआ सो हुआ सेवकों से त्रुटियाँ हो ही जाती हैं, स्वामी को उनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये।"

भगवान् बोले—नहीं, ऐसा नहीं। सेवक स्वामी से पृथक् नहीं होता। वह उसका अंग ही है। उसका किया हुआ अपराध स्वामी का ही किया हुआ माना जाता है। किसी ने किसी को एक चपत मार दी, तो यह थोड़े ही कहा जाता है कि हाथ से भूल हो गई, किसी अंग का किया हुआ कार्य अंगों का ही किया हुआ होता है। इसलिये आप लोगों ने शाप दिया सो तो उचित ही किया, मैं तो अपने अपराध के लिये आप से याचना करना चाहता हूँ।"

हाथ जोड़कर दीनता के स्वर में कुमारों ने कहा—"प्रभो ! आप यह कैसी बातें कह रहे हैं ? हमें दूसरा क्यों समझ रहे हैं हमें अपने से इतनी दूर क्यों फेंक रहे हैं ? क्षमा तो अन्यों से

माँगी जाती है। हम तो आपके पुत्र के भी पुत्र-पौत्र हैं। आपके वात्सल्य के भूखे है।"

भगवान् बोले—"यह ठीक है। आप मेरे बच्चे हैं, सभी मेरे बच्चे ही हैं, किन्तु आप श्रेष्ठ बच्चे हैं। ब्राह्मणों को मैंने ही अपनी शक्ति प्रदान करके पतितपावन परमपूज्य बनाया है, बनाया नहीं, उन्हें इस पद पर प्रतिष्ठित करके मैं स्वयं भी उनकी पूज्यभाव से पूजा करता हूँ। इसीलिये मेरी त्रिभुवन में कीर्ति व्याप्त है, कि भगवान् ब्रह्मण्य देव है, भक्तवत्सल हैं आज इन्होंने मेरी उस बढ़ी हुई कीर्ति को चौपट कर दिया। सब यही कहेंगे—भगवान् का द्वार भक्तों के लिये रुक गया। वहाँ भक्त नहीं जा सकते।"

कुमारों ने कहा—"नहीं भगवान्! यह तो छोटी-सी बात है, कौन इसे जानेगा?"

भगवान् ने कहा—"आप इसे छोटी ही बात समझते हैं, छोटी होने पर भी बड़ी खोटी है। बड़ों की छोटी-छोटी बातें भी सर्वत्र फैल जाती हैं। लोग तो छिद्रान्वेषी होते हैं। बड़ों के छोटे से छोटे छिद्र पाकर उन्हें बड़े से बड़ा बनाकर विख्यात करते हैं। एक छोटी-सी भी अपकीर्ति समस्त बढ़ी हुई कीर्ति को नष्ट कर देती है। घड़े भर जल को एक बिन्दु सुरा अपेय बना देती है। छोटी-सी चींटी नाक में घुस कर हाथी को मार देती है। इतने बड़े भारी शरीर में थोड़ा भी कुष्ठ हो जाता है, तो सम्पूर्ण शरीर को नष्ट कर देता है। इसलिये यह छोटा अपराध होने पर भी महान् है। यह तो वही बात हुई कि जिसके द्वारा बढ़े उसी को अन्त में नष्ट किया। जिस पत्तल में खाना उसी में छिद्र करना। मुझे ब्राह्मणों ने ही इतना बड़ा बनाया है, उनका अपमान करना मानों मूल पर प्रहार करना है।"

कुमारों ने कहा—"प्रभो! आप को कौन बढ़ा सकता है?

आप तो पुराणपुरुष हैं, यज्ञ रूप हैं। अनेक बड़े-बड़े राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञों के द्वारा आप की ही आराधना की जाती है। बड़े विधि विधान से यजमान जब यज्ञ करते हैं, तब कहीं आप प्रसन्न होते हैं।"

इस पर भगवान् ने कहा - "हाँ यह सत्य है। यज्ञ मेरा रूप है। यज्ञ में दी हुई विधिपूर्वक आहुतियों को देवताओं के द्वारा मैं ही ग्रहण करता हूँ। यदि वह विधि हीन हुआ, तो मैं वहाँ जाता भी नहीं, असुर ही उसके भागों को उड़ा जाते हैं और कर्ता का भी विनाश करते हैं। सांगोपाङ्ग सविधि यज्ञों से मैं सन्तुष्ट अवश्य होता हूँ, किन्तु उससे भी अधिक सन्तुष्ट मैं ब्राह्मणों के मुख में आहुति देने से होता हूँ। जिसमें से घी चू रहा हो, ऐसा गरमागरम हलुआ यदि ब्राह्मण के मुख में डाला जाय, तब तो मेरी प्रसन्नता का क्या कहना है ? सत् ब्राह्मण मेरे मुख से उत्पन्न हुए हैं मेरे मुख के पुत्र हैं। पिता को स्वयं खाने में उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी पुत्र को खिलाने से होती है। इसी प्रकार ब्राह्मण को खिलाने से मेरा मुख सन्तुष्ट होता है, खिल जाता है, विकसित हो जाता है। सो हे ब्राह्मणो ! आपका शाप सत्य हो, इनका दैत्ययोनि में जन्म हो, ये असुर होकर उत्पन्न हों, किन्तु इन पर इतना अनुग्रह करो, कि शाप के अन्त में ये पुनः मेरे ही पास लौट आवें। इनका निर्वासन चिरकाल के लिए न हो। इतना आप लोग कर देंगे, तो मानों मेरे ऊपर आप सब का अत्यन्त अनुग्रह होगा।"

भगवान् के ऐसे वचन सुनकर कुमार तो भौचक्के से रह गये। वे निर्णय ही न कर सके, भगवान् किस भाव से कह रहे हैं। भगवान् की मधुमयी वाणी को सुनकर वे इतने बेसुध बन गये थे, कि कहने की इच्छा होने पर भी कुछ देर तक कुछ भी न कह सके।

छप्पय

मेरी बानी बेद ताहि जो तप करि धारें।
अति चञ्चल जो चित्त योग करि ताकूँ मारें॥
पूजनीय ते विप्र तृप्ति करि तिन्हे जिमावें।
परम धाम बैकुण्ठ सुकृति ते निश्चय पावें॥
भुज उठाय करि शपथ हौं, सत्य-सत्य बानी कहहुँ।
सबहि सहन तो करहुँ परि, विप्र निरादर नहि सहहुँ॥

कुमारों की भगवान् से विनती और विदा

[१४०]

यं वानयोर्दममधीश भवान्विधत्ते,
वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो,
येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण *
(श्रीभा० ३ स्क० १६ अ० २५ श्लोक)

छप्पय

सनकादिक पुनि कहें प्रभो ! हम दास तिहारे।
दया दीन जन जानि करी नहिँ दोष विचारे ॥
आपु न ऐसी कहहिँ विप्र कूँ फिरि को मानें ।
जग महँ विप्र न रहहिँ धर्म कू फिरि को जानें ॥
वेद धर्म के मूल हैं, विप्र तिनहिँ धारन करहिँ ।
हानि होहि जब धर्म की, तब तनु धरि प्रभु भय हरहिँ ॥

क्रोध क्रोध से शान्त नहीं होता, दब जाता है अहङ्कारी बलवान् अहङ्कारी को देखकर नव तो जाता है, किन्तु हृदय में

* सनकादिकों ने कहा—"प्रभो ! अब हम क्या कहें—आप जो भी उचित समझें करें । इन्हें दंड दें या इनकी और वृत्ति बढ़ा दे । हमें सब बिना छल कपट के स्वीकार है । यदि आप यह समझें कि हमने आपके निरपराध अनुचरों को व्यर्थ शाप दिया है, तो हमें ही इसके लिए जो उचित दंड समझते हो वह दें ।"

द्वेष और उपेक्षा रखकर ही फिर झुकाता है। विनय के सम्मुख अहंकार पानी हो जाता। क्रोधी के प्रति क्रोध न करना, उसी की हाँ-में-हाँ मिला देना और उसके सम्मुख, उसी के अनुकूल मधुर स्निग्ध वचन कहना, मानों उसे बिना मोल के खरीद लेना है। भगवान् तो इस विद्या में बड़े कुशल हैं। कहाँ कैसा वर्ताव करके किसका किस प्रकार कल्याण हो सकता है, इसे भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई जानता नहीं। इसलिये भगवान् की जितनी भी लीलायें हैं सभी जगत् के कल्याण के निमित्त, सभी लोक संग्रह और शिक्षा के ही निमित्त होती हैं। हम अपनी मानवीय बुद्धि के द्वारा उनके विषय में नाना भाँति के तर्क-वितर्क करते रहते हैं। ऐसा क्यों हुआ ? भगवान् को यह बात तो करनी नहीं चाहिये थी। यह लीला करने से क्या लाभ ? अरे, भूले हुए भाइयो! लाभ-हानि तो वे ही जानते हैं। तुम तो उन्हें सुनो और कर्णों को पवित्र करो, तुम्हारे लिये यही बहुत बड़ा लाभ है। भगवान् की लीला, कथा श्रवण करने से तुम सुख के भागी बन जाओगे।

ब्रह्माजी कहते हैं—"भगवान् ने जब कुपित हुए कुमारों के सम्मुख इस प्रकार सुन्दर, मधुर कानों को प्रिय लगने वाली वाणी कही, तो कुमारों के रोंगटे खड़े हो गये। आनन्द के कारण अङ्ग प्रत्यङ्ग पुलकित हो उठे। वाणी क्या थी, सुधा से संपुटित सञ्जीवनी थी, हृदय को प्रेम से प्लावित कर देने वाली थी। पहले तो कुमारों ने समझा—प्रभु हम पर कृपा करके स्नेहवश ऐसा कह रहे हैं। किन्तु अत्यधिक स्नेह में शङ्का होती है, कि हम तो इतने स्नेह के पात्र हैं नहीं, हमारा इतना सौभाग्य कहाँ कि हमारा प्रेमास्पद हमसे इतना प्यार कर सके। इसीलिये मुनि भ्रम समझे। उन्होंने सोचा—"हमने अकारण भगवान् के प्रिय पार्षदों का अनिष्ट किया है, सम्भव है भगवान् कुछ दूसरे

भाव से कह रहे हों, अतः वे हाथ जोड़ कर गद्गद् कंठ से कहने लगे।"

सनकादिक बोले—"प्रभो ! हम समझ नहीं सके, कि आप हमें शिक्षा दे रहे हैं या वात्सल्य स्नेह प्रकट करते हुये ये बातें कह रहे हैं। आपने अन्त में कहा—"यदि तुम इन्हें शीघ्र शाप से मुक्त करने का वरदान दोगे, तो मेरे ऊपर तुम्हारा बड़ा अनुग्रह होगा।" सो, हे भक्तवत्सल ! इसका अभिप्राय क्या है। हममें क्या सामर्थ्य है, जो आप पर अनुग्रह कर सकें।"

भगवान् ने कहा—"कुमारो ! वेद-वेदाङ्ग पारङ्गत ब्राह्मणों में सभी सामर्थ्य विद्यमान हैं। उन्हीं के कृपा-प्रसाद से तो आज मैं अजितों को भी जीतने वाला सर्वश्रेष्ठ बना हुआ हूँ।"

कुमारों ने कहा - "प्रभो ! यह तो आप लोक संग्रह के लिये ऐसा कह रहे हैं, कि आपको देखा-देखी और भी ऐसा करें। कोई वेदज्ञ ब्राह्मण की अवहेलना न करे। नहीं तो सत्य बात तो यह है, कि ब्राह्मणों में यह शक्ति देने वाले भी तो आप ही हैं। अतः आप ब्रह्मण्यदेव होते हुए भी ब्राह्मणों के, देवताओं के तथा समस्त चराचर विश्व के पूजनीय तो एकमात्र आप ही हैं।"

भगवान् हँसे और बोले—"विप्रो ! यह सब आपकी कृपा का फल है।"

कुमारों ने कहा—"नहीं भगवन् ! कामार्थी जिनकी कृपा से समस्त कामों को, अर्थार्थी जिनकी कृपा से अखिल अर्थों को, मोक्षार्थी जिनकी कृपा से सहज में ही मोक्ष पाकर संसार सागर से पार हो जाते हैं, उन पर कृपा करने की सामर्थ्य किसमें है ?"

भगवान् ने कहा—"ये मेरे द्वारपाल इतने दिन समीप रह कर भी मेरे स्वभाव को नहीं जान सके। मैं तो अपने अनुगतों के सदा पीछे-पीछे घूमता रहता हूँ, कि उनके चरणों की धूलि मेरे ऊपर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ।"

सनकादिक ने कहा—"हे अशरणशरण! हे भक्तवत्सल! हे दीनबन्धो! ये वचन आपके अनुरूप ही हैं। जिन लक्ष्मीजी की तनिक-सी कृपा के लिये ब्रह्मादिक देव लालायित रहते हैं वे भी आपकी चरणधूलि की वांछा से आपके चरणों का परित्याग करके कहीं नहीं जातीं। जहाँ आपके चरण पड़ जाते हैं, वह परमधाम हो जाता है। वहाँ की धूलि त्रैलोक्य को पावन करने वाली बन जाती है। ये बातें तो आप सब को सिखाने के लिये विप्रों का महत्व जताने, धर्म मर्यादा को बनाये रखने को कहते हैं। प्रभो! हमें अहंकारवश क्रोध आ गया। हमने अपने को इन द्वारपालों से श्रेष्ठ समझा, तभी तो ऐसा दारुण शाप दे दिया। हे कृपालो! आप हमारी इस अविनय को क्षमा करें। हमारे अपराध को मन में न लावें।"

इस पर भगवान् बोले—"कुमारो! तुम कैसी बातें कह रहे हो अपराधी तो ये जय विजय हैं। इन्होंने आपका अपमान किया। किसी का पशु, भृत्य, अथवा आश्रित यदि अपराध करता है, तो उसका उत्तरदायित्व उसके स्वामी ही पर होता है। अतः इस न्याय से मैं भी अपराधी हूँ। अब इसका निर्णय आप करें। आप लोगों ने जो इन्हें दंड दिया है, वह तो उचित ही किया है। अब आप चाहें तो इन्हें इससे भी अधिक दंड दे सकते हैं। इन्हें सदा के लिये यहाँ से निर्वासित कर सकते हैं। आप जो भी कहेंगे यह सब मुझे सहर्ष स्वीकार है।"

इस पर कुमारों ने कहा—"हे दयासागर! आप हमें अधिक लज्जित न करें। हम तो आपके अनुचर तथा भृत्य हैं। करते

कराने वाले तो आप ही हैं। हम चारों ही अपना अभियोग लेकर आपके सम्मुख उपस्थित हैं। हम चारों में से आप जिसे भी जो दंड या पारितोषिक देना चाहें, वही सबको स्वीकार है। आप चाहें इन द्वारपालों को दंड दें, क्षमा कर दें या इनकी वृत्ति, पद प्रतिष्ठा और बढ़ा दें। अथवा हमने अकारण इनका अपमान किया है, इन्हें शाप दिया है, तो हमें जो उचित समझें दंड स्वयं दें अथवा इनके द्वारा दिला दें। हमें किसी में भी आपत्ति न होगी।"

जब इस प्रकार बिना छल कपट के सरलभाव और शुद्ध अंतःकरण से कुमारों ने कहा, तब भगवान् उनके ऊपर कृपावारि की वृष्टि करते हुए, उन्हें अपने स्नेहामृत से भिगोते हुए बोले—"देखो, इन लोगों को आसुरी योनि अवश्य प्राप्त होगी इसमें कोई संदेह नहीं। आपकी वाणी अमोघ है, वह कभी अन्यथा हो ही नहीं सकती।"

इस पर दीनता के स्वर मे कुमारों ने कहा—"नहीं दयालो! हम अपनी वाणी की अमोघता नहीं चाहते। उस समय हमने बिना समझे बूझे क्रोध के आवेश में शाप दे डाला। अब आपको जो भी उचित प्रतीत हो, जो भी रुचिकर हो वही काज करें। हमारी वाणी को अमोघ बनाने के अभिप्राय से इनका पतन न हो।"

यह सुनकर श्री वैकुण्ठनाथ मुस्कराये और बोले—"कुमारो! तुम चिन्ता मत करो। यह तो मेरा ही संकल्प है, मेरी ही इच्छा थी, उसी को मैंने आप लोगों के मुख द्वारा कहलाया है। ये लोग दैत्ययोनि को अवश्य प्राप्त होंगे, किन्तु वैरभाव से ये मेरे प्रति तीव्र क्रोध करेंगे। मुझमें निरन्तर क्रोध बुद्धि रखने से इनका चित्त मेरे में ही एकाग्र हो जायगा। मुझमें सर्वात्मभाव से मन लगाने का ही नाम भक्ति है। अतः ये वैरभक्ति के द्वारा शीघ्र ही मुझे पुनः

प्राप्त कर सकेंगे। बहुत स्वल्प काल में ही ये पुनः अपने पूर्वपद पर प्रतिष्ठित होंगे। इस विषय में आप लोग तनिक भी चिन्ता न करें। यह सब मेरा ही विधान है।"

भगवान् की ऐसी मधुर और सान्त्वना पूर्ण वाणी सुनकर कुमार बड़े ही प्रसन्न हुए। अब तो आगे कुछ कहने योग्य बात रही ही नहीं। भगवान् के विधान को अन्यथा करने की शक्ति ही किसमें है। भगवान् के धाम में आने पर उनके हृदय में जो तनिक-सा अहंकार का अंकुर-सा उगने लगा था वह भगवान् के इस व्यवहार से और इस अद्भुत घटना से जड़ मूल सहित सर्वथा नष्ट हो गया। अहंता के नष्ट होने से वे सन्तुष्ट और पूर्ण स्वस्थ हो गये। उन सबों ने श्री लक्ष्मी जी के सहित वैकुण्ठपति श्रीमन्नारायण के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और बोले—"प्रभो! आज हमारी समस्त इच्छायें पूर्ण हो गईं। आज हम सचमुच ही कृतार्थ हो गये। अब कोई भी कर्तव्य हम लोगों का शेष नहीं रहा। देह धारण करने का परम फल हमें प्राप्त हो चुका। आपके इस अनुपम लोक के दर्शन करके तथा आपकी चरणवन्दना और कृपा प्रसाद पाकर हम सब परम सन्तुष्ट हुए। अब आज्ञा हो तो हम अपने पिता के ब्रह्मलोक में चले जायँ।"

कुमारों की बात सुनकर भगवान् ने उनका अभिनन्दन किया और उनसे प्रेमपूर्वक बोले—"अच्छा, सनकादिक मुनियो! बड़े आनन्द की बात है, तुम लोग यहाँ आये। तुमने मुझे और मेरे परम दुर्लभ वैकुण्ठधाम को देखा। अब तुम जाओ, सदा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अभिमान से शून्य होकर मेरा स्मरण करते रहना। सब काल सर्वदा, सर्वत्र 'हरिशरणम्' इस महामन्त्र को जपते रहना।"

इस प्रकार भगवान् से आज्ञा लेकर, उनकी कृपा को प्राप्त

करके उनकी छवि को हृदय में धारण करके मुनियों ने उन्हें पुनः प्रणाम किया, प्रदक्षिणा की और स्वच्छन्द होकर अपनी इच्छानुसार अन्य लोकों में चले गये।"

ब्रह्माजी कहते हैं—"देवताओ ! इस प्रकार मेरे मानस पुत्रों का अहंकार भी भगवान् ने दूर कर दिया और अपनी क्रीड़ा के लिये एक नया कौतुक भी रच दिया।"

छप्पय

काम अनुज वश भये शाप हम दयो मूल तें।
अहङ्कार अब नाथ! हमारो नस्यो मूल तें॥
हरि हँसि बोले—नहीं कुमारो! दुख मत मानों।
शाप अनुग्रह माहिँ सदा मम इच्छा जानों॥
तुष्टि भई हरि दरस तें, वचन सुनत निर्भय भये।
चरण कमल सिर धूरि धरि, सनकादिक मुनि चलि दिये॥

ब्रह्माजी द्वारा देवताओं को सान्त्वना

[१४१]

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो,
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश,
स्तत्रास्मदीय विमृशेन कियानिहार्थः ॥*
(श्री भा० ३ स्क० १६ अ० ३७ श्लोक)

छप्पय

जो जगकी उत्पत्ति, प्रलय, पालन के स्वामी ।
अच्युत अखिल अनादि अखंडित अन्तरयामी ॥
जिनकी माया कठिन पार पंडित नहिँ पावहिँ ।
वेद दाम महँ बँधे जगतकूँ नाच नचावहिँ ॥
जगकूँ जिनने रच्यो है, जो जाको पालन करहिँ ।
जीव करें फल होहि का, श्रीहरि ही संकट हरहिँ ॥

जीव में अपना कर्तृत्वाभिमान न हो, वह जगत् के कर्ता, हर्ता, धर्ता और विधाता श्रीहरि को ही सर्वस्व माने तो उसका जीवत्व ही छूट जाता है। वह त्रिगुणातीत हो जाता है। गुण

---

* जो विश्व की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के कारण हैं, जो आदि पुरुष हैं जिनकी माया योगीजनों के भी द्वारा कठिनाई से पार की जाने योग्य है, वे ही तीनों गुणों से स्वामी हमारा कल्याण करेंगे। फिर इस विषय में हमारे विचार करने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?

रूप रस्सी में बँधे जीव नाना संकल्प विकल्प करते रहते हैं। यदि हम यह करेंगे, तो यह फल होगा। यदि हम उस कार्य को यों करते, तो उसका ऐसा परिणाम न होता। अनेक कल्पनायें करके जीव व्यर्थ में अपने को चिन्ता-सागर में निमग्न किये रहता है। दिति के गर्भ के तेज से हतप्रभ होकर देवगण लोकपितामह ब्रह्मा के पास इसके प्रतीकार का उपाय पूछने गये, कि यह तेज इतना बलवान्, पराक्रमी, प्रभावशाली और वीभत्स क्यों है ? क्यों यह हमें अभी से श्रीहीन बनाये हुए है ? इससे बचने का हम लोग क्या उपाय करें ? इस पर ब्रह्माजी ने जय विजय को सनकादि मुनियों के शाप की बात सुनाई।

ब्रह्माजी कथा प्रसंग को चालू रखते हुए कहने लगे "देवताओ ! मेरे मानस पुत्र कुमार तो इस प्रकार भगवान् की स्तुति करके चले गये, किन्तु जय-विजय बड़े उदास हुए। भगवान के लोक से गिरना पड़ेगा, भगवान् का विछोह होगा, तामसी तन में जाना पड़ेगा। इससे उनका मुख फीका पड़ गया। वे बार-बार अपने अपराध का स्मरण करके मन में बड़ी भारी ग्लानि मानने लगे। वे दुखी होकर अत्यधिक पश्चात्ताप करने लगे। तब भगवान् उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"देखो, भैया ! घबड़ाने की बात नहीं है। मुझमें सब सामर्थ्य है। मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ, किन्तु ब्राह्मणों के वचन को अन्यथा करना नहीं चाहता।"

रोते-रोते जय और विजय ने कहा—"प्रभो ! हमें आसुरी योनि से भय नहीं। भय तो यह है कि हम आपकी भक्ति से शून्य हो जायँगे। हम आपको भूलकर न जानें क्या-क्या करते रहेंगे ? आपसे वियोग भी होगा। इसी से हमारा हृदय फट रहा है।"

इस पर श्रीहरि बोले—"देखो ! तुम इसकी भी चिन्ता मत करो। आसुरी योनि में रहने पर भी तुम विरोध भक्ति करोगे।

मुझे शत्रु समझ कर द्वेष से सदा मेरा स्मरण करते रहोगे। मेरा स्मरण तो कैसे भी हो, निष्फल जाता नहीं, तुम शीघ्र ही फिर मेरे पास आ जाओगे।"

द्वारपालों ने आँसू बहाते हुए कहा—"दुःख तो हमें इस बात का हो रहा है कि हमने कुमारों का अपराध किया, उन्हें कुपित किया, दुखित किया।"

भगवान् बड़े स्नेह से बोले—"अरे नहीं, भैया! यह सब तो मेरी इच्छा से ही हुआ। नहीं तो मायातीत कुमारों को क्रोध कैसे आ सकता है? बैकुण्ठ में भी ये क्रोध के वशीभूत कैसे हो सकते हैं? तुम भी उनका अनादर कैसे कर सकते हो? यह तो मुझे क्रीड़ा ही ऐसी करनी थी।"

यह सुनकर दोनों जय-विजय फूट-फूटकर रोने लगे—"महाराज! ऐसी भी क्या क्रीड़ा? किसी को क्रोध कराकर, किसी को शाप दिलाकर, किसी को बिछुड़ा कर खेल करना—यह कुछ अच्छी बात है? अब निरन्तर इन चरणारविन्दों का दर्शन कब होगा?" इतना कहकर दोनों बैकुण्ठभवन के प्रधान द्वारपाल फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें रोते हुए देखकर लक्ष्मीजी का हृदय भर आया। मातृहृदय ही जो ठहरा, तनिक देर में पसीज जाता है। पुरुष तो कठोर हृदय के होते हैं। देर में प्रसन्न होते हैं, देर में क्रुद्ध होते हैं। किन्तु मातृहृदय में कभी क्रोध भी आ जाता है, तो शीघ्र प्रसन्नता भी आ जाती है।"

भगवान् ने देखा—"लक्ष्मीजी ने प्रसन्न होकर यदि इन्हें अभय कर दिया, तब तो गड़बड़ो हो जायगी। मेरी बनी बनाई लीला चौपट हो जायगी। अतः उन्हें उन दोनों की ओर से फिराने के लिये बोले—"देखो, भैया! कुमारों के शाप की तो कोई बात ही नहीं। वे तो बच्चे ही ठहरे। उनका शाप के प्रति आग्रह भी नहीं था। तुम्हारे सम्मुख बार-बार कह रहे थे। इन्हें

क्षमा करो, हमें दण्ड दो, अपराध हमारा ही है। उनका शाप तो नहीं के बराबर है। तुमने तो लक्ष्मीजी का बड़ा भारी अपराध किया है।"

अब तो लक्ष्मीजी के कान खड़े हुए। हैं! मेरा इन्होंने क्या अपराध किया? जय-विजय भी न समझ सके कि माताजी के प्रति हमने कौन-सा अनिष्ट व्यवहार कर डाला। कौन-सी अविनय प्रदर्शित की। तब भगवान् स्वयं ही बोले—"इस समय नहीं, यह पुरानी बात है। जिस समय मैं योगनिद्रा में अवस्थित था, उस समय भी तुम लोग मेरे द्वार पर प.रा दे रहे थे। इतने में ही लक्ष्मीजी आईं, वे भीतर जाने लगीं, तुम लोगों ने उन्हें भी यह कहकर रोक दिया कि इस समय भगवान् शयन में हैं"

इस पर लक्ष्मीजी को बड़ा क्रोध आया। वे बोलीं—"शयन में हैं तो क्या हुआ। घरवाली को भी कोई रोक सकता है? स्वामी शयन में हों या जाग्रत में। भार्या को सब समय, सब दशाओं में उनके यहाँ बिना रोक-टोक जाने का स्वत्व है।" इतने पर भी तुमने इन्हें नहीं जाने दिया, तो इन्होंने ही पूर्व में कुपित होकर तुम्हें शाप दिया था, कि तुम लोग दैत्य हो जाओ।

"अब भैया, सोच लो तुम ही। कुमारों के शाप की तो कोई बात नहीं। इन लक्ष्मीजी का शाप तो अमोघ है, यह तो कभी झूठा हो नहीं सकता। इसे मेटने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है।"

यह सुनकर तो लक्ष्मीजी को पुनः कोप आ गया। हाँ, ये वे ही हैं, जिन्होंने मुझे अपने पति के पास जाने से रोका था, स्वामी के वियोग का दुःख दिया था। अच्छी बात है, बच्चू! अपने किये का फल भोगो। अब तुम भी अपने नाथ से वियुक्त होकर उसी दुःख-सा अनुभव करो। कुमारों ने जो कुछ किया ठीक किया। अवश्य ही तुम दण्डनीय हो। लक्ष्मीजी तो यह सोच रही थीं, उधर भगवान् के समीप ही खड़े-खड़े गरुड़जी मुस्करा रहे थे।

वे सोच रहे थे, भगवान् की लीला जानी नहीं जा सकती। हम सोचते थे, यह घटना अकस्मात् घट गई। कुमारों को सहसा क्रोध आ गया, किन्तु यह सब विधान तो भगवान् ने पहले से ही

बाँध रखा था। घरवाली को प्रसन्न करने को भगवान् ने अवसर पाकर उपाय निकाला। इतने दिनों तक उसे दबाये रहे। बेचारे

कुमारों को व्यर्थ ही वीच में डाल दिया, किन्तु उनके अहंकार के अंकुर को भी तो उखाड़ना था। ब्राह्मणों का भी महत्व तो प्रकट करना था। अपनी लीला का संभार जुटाने के लिये ही कुमारों को रोष कराया, जय-विजय को धृष्ट बनाया। लक्ष्मीजी को भी शाप का स्मरण दिलाया, इस प्रकार भगवान की एक-एक क्रीड़ा में अनन्त कारण छिपे रहते हैं, क्योंकि वे अनन्त हैं। अनन्त के सभी कार्य अनन्त ही होते हैं। भगवान् गरुड़जी के भाव को ताड़ गये और उनके कन्धे को बलपूर्वक दबाया, कि यहाँ कुछ गड़बड़-सड़बड़ मत करना, नहीं लक्ष्मीजी बुरा मान जायँगी।

लक्ष्मीजी ने अवहेलना के स्वर में कहा—"अब महाराज! उन तेजस्वी मुनियों ने जो शाप दे दिया, सो दे दिया। आपने भी उनका अनुमोदन कर दिया। आप भी विप्रशाप को अमोघ बता कर अपनी मर्यादा को भङ्ग करना नहीं चाहते। अच्छी बात है, तो ये दोनों दैत्य योनि में जन्म लें।"

भू देवी भी पास में ही खड़ी थीं। उन्होंने भी लक्ष्मी जी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए कहा—"अब इन्हें दैत्य तो बनना ही होगा, भगवान् इसे अन्यथा नहीं कर सकते, किन्तु भगवान् इनका उद्धार करें।"

दोनों देवियों का समर्थन सुनकर उन दोनों द्वारपालों को मन ही मन बुरा लगा। क्योंकि शाप के लगते ही उनके मन में आसुरी भाव आ गया था। जय ने लक्ष्मी जी की ओर देखकर मन में सोचा – "अच्छी बात है, करवाओ तुम हमें अपने स्वामी से अलग। दैत्य बनकर हम भी कुछ दिन को ही सही, तुम्हें भी तुम्हारे स्वामी से अलग कर देंगे। यही बात विजय ने भू देवी को देखकर सोची।"

उनके भावों को भगवान् समझ गये, क्योंकि उन्हें तो यह अभीष्ट ही था। उन्हें तो पृथ्वी पर नर-नाट्य रचना ही था।

अतः उनके भाव का समर्थन करते हुए बोले—"अच्छी बात है, तुम लोग जो सोच रहे हो, वही होगा। तुम्हारा कल्याण ही होगा। तीन जन्मों को धारण करके पुनः तुम तीसरे जन्म में मेरे द्वारा मारे जाकर इस लोक को प्राप्त करोगे। मेरा स्मरण तुम्हें आसुरी योनि में भी वैर भाव से रहेगा।"

इस प्रकार भगवान् द्वारपालों को भली-भाँति समझा-बुझाकर अपने सजे-सजाये, विमानों की श्रेणियों से शोभित, मणिमय दिव्य देदीप्यमान महल में अपनी प्रिया लक्ष्मी जी के साथ चले गये।

ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं—"देवताओ! ये ही दोनों वैकुण्ठपति प्रभु के प्रधान पार्षद जय-विजय, वैकुण्ठ से पतित होकर ब्रह्मर्षि कश्यप की पत्नी के उदर में प्रविष्ट हुए हैं। उन्हीं असुरों के तेज से तुम सब तेजहीन हो गये हो। उनके सामने तुम सब लोकपाल मिलकर भी नहीं ठहर सकते। उन्हें कोई अपने बल पौरुष से जीत नहीं सकता। वे अपराजित और अप्रमेय बल वाले दैत्य होंगे। तुम लोग देख रहे हो, अभी गर्भ से बाहर नहीं हुए, उदर में रहने पर ही इतना उपद्रव हो रहा है। जब प्रकट होंगे तब तो कहना ही क्या?"

यह सुनकर तो देवताओं की सिटिह्री भूल गई। वे घबड़ाकर कहने लगे—"प्रभो! अभी से इस संकट से बचने का कोई उपाय करो। गर्भ में ही ये नष्ट हो जायँ, इसकी व्यवस्था करो।"

भगवान् ब्रह्माजी बोले - "देवताओ! एक काम करो। वह गर्भ इतना प्रभावशाली है, कि इन प्रकृति के रचित तत्वों से उनकी कोई हानि नहीं हो सकती। जल में डूब नहीं सकता, पृथ्वी में कोई अस्त्र उन्हें काट नहीं सकता, अग्नि उसे जला नहीं सकती, वायु की सामर्थ्य नहीं कि उन्हें उड़ा ले जाय या सुखा

दें। सूर्यदेव उन्हें तपा नहीं सकते। अब तुम लोग एक काम करो या तो इन प्राकृतिक अस्त्रों को छोड़कर किसी अन्य नये धातु के अस्त्र बनाओ, या कोई नूतन जल का सागर बनाओ, या इस अग्नि से एक विलक्षण अग्नि बनाओ। इनमें से किसी के द्वारा इन्हें नष्ट कर दो।"

देवताओं ने उदास मन से कहा—"महाराज! विलक्षण जल के समुद्र बनाने की बात पृथक् रही। हम तो जल की एक बिन्दु भी नहीं बना सकते। अग्नि का एक कण भी नहीं रच सकते। इन सबको रचने की सामर्थ्य तो आप में ही है। रक्षा करने की सामर्थ्य भगवान् विष्णु में और प्रलय करने की सामर्थ्य सदाशिव रुद्रदेव में है।"

ब्रह्माजी बोले—"न भैया! मुझ में तो बनाने की सामर्थ्य है नहीं। वे भगवान् वैकुण्ठनाथ ही अपनी शक्ति देकर बनाते हैं। वे ही पालन करते हैं। अन्त में रुद्र होकर वे ही संहार करते हैं।"

देवता उदास मन से बोले—"जब महाराज! आप ही कुछ करने में समर्थ नहीं हैं, तो हम तो आप से ही उत्पन्न हैं, आप ही हमारे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, जनक पितामह और पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। तब हम क्या कर सकते हैं?"

ब्रह्माजी बोले—"भैया! यही तो मैं कहता हूँ, जिन्होंने इस इतने बड़े भारी प्रपञ्च को संकल्प मात्र से बनाया है, एक अंश से इसकी रक्षा संहार आदि करते हैं, रक्षा का भार उन्हीं पर है। वे जो भी करेंगे उसी में मङ्गल होगा, कल्याण होगा।"

इस पर देवता बोले—"तब हम क्या करें? हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें?"

ब्रह्माजी बोले—"बैठे क्यों रहो, जो सुख दुःख आ जायँ उन्हें प्रारब्ध भोग मानकर भोगो। एकमात्र उन्हीं की कृपा की प्रतीक्षा

करते हुए, उन्हीं का नाम स्मरण, गुण गान द्वारा कालक्षेप करके समय बिताओ।"

देवताओं ने कहा "तब तो महाराज! पुरुषार्थ कोई वस्तु ही नहीं है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"पुरुषार्थों के मानी क्या ?"

ब्रह्माजी के इस प्रश्न को सुनकर देवता कुछ देर सोचते रहे और बोले—"पुरुषार्थ यही, पुरुष का बल, सामर्थ्य, उद्योग।"

ब्रह्माजी ने कहा—"यह तो तुम अभी कह चुके कि हम अपने बल से जल का एक बिन्दु भी नहीं बना सकते।"

देवताओं ने कहा—"जल बिन्दु चाहें न बना सकें, किन्तु पुरुषार्थ ही द्वारा धन प्राप्त होता है पुरुषार्थ से शरीर के उपयोगी सामग्री जुटाई जाती है। पुरुषार्थ न करें तो रण में शत्रु कैसे पराजित हो सकता है। संसार में जो भी हो रहा है पुरुषार्थ से ही हो रहा है। सभी प्रारब्ध के भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठ जायँ, तो संसार का कार्य ही न चले। आप नित्य प्रति प्रजा की उत्पत्ति के लिये पुरुषार्थ करते रहते हैं। सभी प्राणी पुरुषार्थ के ही द्वारा दुःखों की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होते रहते हैं।"

ब्रह्माजी बोले—"अच्छा जितने लोग पुरुषार्थ करते हैं सबको कीर्ति, जय, धन और भोग सामग्रियाँ मिलती हैं।"

देवता बोले—"नहीं, सबको तो नहीं मिलती कोई सफल होते हैं, कोई-कोई पुरुषार्थ करके भी असफल होते हैं।"

ब्रह्माजी बोले—"ऐसा क्यों होता है। एक ही गुरु से छात्र पढ़ते हैं। गुरु एक-सा पाठ पढ़ाते हैं। किसी को बिना श्रम के ही शीघ्र स्मरण हो जाता है, किसी को निरन्तर घोर श्रम करने पर भी स्मरण नहीं होता। एक से ही कार्य में दो समान श्रम करते हैं, एक को लाभ होता दूसरे को हानि, यह क्या बात है ?"

देवताओं ने कहा—"उनके पुरुषार्थ में कमी होगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखने में तो जिस लड़के को याद नहीं होता, वह सुनकर ही याद हो जाने वाले की अपेक्षा अधिक श्रम तथा पुरुषार्थ करता है।"

देवताओं ने कहा—"तब फिर महाराज ! इसमें बुद्धि का दोष है।"

ब्रह्माजी बोले—"हाँ, यही तो मैं कह रहा हूँ। आयु, विद्या, बुद्धि, धन, दुःख-सुख—ये जन्म से पहले ही बन जाते हैं। इसी का नाम है प्रारब्ध। इसलिये इन संसारी पदार्थों की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ को लगाना मूर्खता है। वे तो तुम्हें प्राप्त होंगे ही, उसके लिये तो तुम इच्छा न होने पर भी पुरुषार्थ करोगे ही उसमें तो प्रारब्धवशात् तुम्हारी स्वतः प्रवृत्ति होगी ही। प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दो इस जीवन रूपी रथ के पहिये हैं। ये जीव रूपी पक्षी के दो पङ्ख हैं। इसलिये संसारी भोगों को तो प्रारब्ध पर छोड़ दो। आने पर बहुत हर्ष नहीं, जाने पर विषाद नहीं। जो हमारे प्रारब्ध का होगा, उसे कोई ले नहीं सकता। जो हमारे प्रारब्ध का नहीं है वह किसी भी प्रयत्न से, किसी भी पुरुषार्थ से हमें मिल नहीं सकता। इन भोगों को तो दैवाधीन समझो। अपने पुरुषार्थ का प्रयोग भगवत् कृपा की प्रतीक्षा में करो। गद्गद् कण्ठ से अधीर होकर रोओ। प्रभो ! हम पर अब कब कृपा होगी ? कब हमारी बारी आवेगी। कब हम आपके अनुग्रह के भाजन बन सकेंगे ?"

देवताओं ने कहा—"तब फिर जीव का कर्तव्य क्या रहा ? वह करे क्या ?"

इस पर ब्रह्मा जी बोले—"बस, तीन ही काम करने चाहिए, इन्हीं में अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को लगा देना चाहिये।"

देवताओं ने पूछा—"वे तीन काम कौन-कौन से हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"देखो, पहिला तो यह है कि भगवान् की अनुकम्पा की प्रतिक्षण प्रतीक्षा करता रहे। दूसरा यह कि प्रारब्धानुसार जो सुख-दुःख आ जाय, उसका उदासीन भाव से भोग करता रहे और तीसरा यह कि निरन्तर हृदय से, शरीर से और वाणी से भगवान् को नमस्कार करता रहे। जो इन तीनों कार्यों को करते हुए कालक्षेप करता है, वह संसार सागर से सहज में ही पार हो जाता है।"

देवताओं ने कहा—"तब हम क्या करें ?"

भगवान् ब्रह्माजी बोले—"तुम करो क्या ? भगवान् का स्मरण करो, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करो। उन्हें सबकी स्वयं चिन्ता है। वे उत्पन्न होकर इन असुरों को स्वयं मार देंगे। इस विषय की तुम चिन्ता भी करो, तो उसका कोई मूल्य नहीं। व्यर्थ अपने को दुखी करना है। अतः समय की प्रतीक्षा करो और अपने सम्पूर्ण बल पुरुषार्थ को भगवत् स्मरण में लगाओ।"

ब्रह्माजी का ऐसा सारातिसार उपदेश सुनकर देवता स्वर्ग को चले गये और ब्रह्माजी भगवत् स्मरण करते हुए अपने लोक में चैन की वंशी बजाते रहे।"

छप्पय

नर तनु को फल जिही विष्णु शरणागत होनों।
विषय वासना माँहि व्यर्थ जीवन कूँ खोनों॥
स्वेच्छा तें को रोग शोक कूँ पुरुष बुलावे।
बिनु प्रयत्न आजाहिं सुक्ख त्यों ही आ जावे॥
कृपा प्रतीक्षा नित करहु, दुःख दयामय हरिहैं।
मानि वचन विधि चले सुर, प्रभु सब मङ्गल करिहैं॥

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष का जन्म

[१४२]

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ।
उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १७ अ० २, ३ श्लोक)

छप्पय

दितिदेवी इत डरी, करहिँ नहिँ प्रसव सुतनिकूँ ।
कश्यप आयसु दई निकारो अब दैत्यनिकूँ ॥
पति आज्ञा सिर धारि यमज सुत जनमे दुर्धर ।
स्वर्ग भूमि नभ माँहि भये उत्पात भयङ्कर ॥
ब्रह्माजी पंडित बने, नामकरण तिनिको कर्यो ।
हिरनकशिपु बड़ नाम धरि, हिरण्याक्ष लघु को धर्यो ॥

यह सम्पूर्ण जगत् भावमय है। जिस समय जगत् में जैसे भावों का प्राबल्य होगा, उस समय वैसा ही वातावरण बन जायगा। संसार की सभी घटनाओं का वातावरण के ऊपर

* सती साध्वी दितिदेवी ने जो कि पुत्रों के द्वारा शंकाकुला थी, अपने पति की आज्ञा से पूरे सौ वर्ष हो जाने पर दो यमज पुत्र उत्पन्न किये। उनके जन्म के समय स्वर्ग में, पृथ्वी में, तथा अन्तरिक्ष में बड़े-बड़े उत्पात होने लगे, जो कि सम्पूर्ण लोकों को भयभीत करने वाले थे।

प्रभाव पड़ता है, किन्तु जो सामान्य घटनायें हैं, उनका कम प्रभाव पड़ता है और जो भारी घटनायें हैं। उनका अधिक प्रभाव पड़ता है। एक चावल को जल में डालो। उससे भी जल में क्षोभ होगा। उसके पड़ने से भी लहरियाँ पैदा होंगी। किन्तु वे सामान्य होंगी। जितनी ही भारी और बड़ी वस्तु डालोगे, उतनी ही ऊँची ऊर्मियाँ उठेंगी, उतना ही अधिक क्षोभ होगा। इसी प्रकार यह संसार भी एक सागर है। इसी विशाल वायुमंडल में भाव रूपी जल भरा है। सामान्य लोग इस आकाश को पोल समझते हैं, किन्तु वास्तव में यह पोल नहीं। इसमें ठूँस-ठूँसकर भाव भरे हैं। सभी घटनाओं से इस जगत् में सर्वदा छोटी-बड़ी ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु स्थूल बुद्धि होने के कारण हम छोटी घटनाओं की ओर ध्यान नहीं देते। प्रतिपल आदमी की आयु क्षीण होती है, शरीर बदलती रहती है, परिवर्तन होता रहता है, किन्तु परिवर्तन का पता हमें तब लगता है, जब छोटे से बहुत बड़े हो जाते हैं। काले बालों से सफेद हो जाते हैं। आयु क्षीण होने का पता तब लगता है, जब मर जाते हैं। सभी घटनाओं से सुख-दुःख तो होता है, किन्तु उत्तम, मध्यम और सामान्य के भेद से दुःख-सुख में भी तारतम्य होता है। सामान्य घटनाओं का सम्बन्ध सामान्य और सीमित व्यक्तियों ही से होता है। अतः उसके दुःख-सुख का प्रभाव भी विशेष कर उसी सीमा में व्यक्त होता है। जिन घटनाओं का सम्बन्ध सम्पूर्ण संसार से होता है, उनके सुख-दुःख का प्रभाव संसार भर में व्याप्त हो जाता है, जैसे भगवान् के अवतार से सम्पूर्ण जगत् का कल्याण होगा, वे चराचर को सुखी करेंगे, अतः उनके जन्म के समय सम्पूर्ण संसार में आनन्द छा जायगा। जड़ चैतन्य सभी के हृदयों में आनन्द की एक लहर उठने लगेगी, क्योंकि वे असीम हैं, अतः उनके प्रकट होने के आनन्द की भी कोई सीमा नहीं। इसी प्रकार जब

भगवान् से विरोध करने वाले महापराक्रमी दैत्य उत्पन्न होते हैं, तो सम्पूर्ण जगत् में भय उत्पन्न होता है। वास्तव में दोनों ही रूप भगवान् की प्रेरणा से, उनकी इच्छा से उत्पन्न हुए हैं। दोनों में उन्हीं की शक्ति है, नहीं तो सर्व शक्तिमान् सर्वेश्वर से समर करने की शक्ति किसमें हो सकती है। एक ही पात्र है जब वह रंगमंच में बीभत्स रूप रखकर आता है, तो दर्शक डर जाते हैं, मोहक रूप रखकर आता है, सब मोहित हो जाते हैं। जो इस रहस्य को जानते हैं जिन्हें उसका यथार्थ रूप विदित है, वे न डरते हैं, न मोहित होते हैं, हँस जाते हैं। जय-विजय वैकुण्ठनाथ के अंग हैं, उनके ही द्वारा उन्हें शक्ति प्राप्त है। जब उन्हीं की इच्छा से वीभत्स रूप रखकर क्रोध करने की इच्छा से उत्पन्न होते हैं, तो सम्पूर्ण जगत् क्षुब्ध होता है, जब उनके उत्पातों से दुखित हुए तो जगत को सुखी करने, उन्हें मारने को विचित्र रूप बनाकर वैकुण्ठनाथ आते हैं, तो सब हर्ष से आनन्दित होकर प्रसन्नता प्रकट करने लगते हैं।

मैत्रेय मुनि उसी कथा को चालू रखते हुए विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! जब दिति के गर्भ से सम्पूर्ण संसार तमोमय हो गया, सभी तेजस्वी तेजहीन हो गये, तब महामुनि कश्यपजी ने अपनी प्रिया दिति देवी से कहा—"देवि! तुम्हारे गर्भ में ये कौन भूत-प्रेत आ गये हैं, जो अभी से सबको भयभीत बना रहे हैं?"

लजाती हुई दिति ने कहा—"अब महाराज! आप ही जानो, करने कराने वाले तो आप ही ठहरे। मुझसे क्या पूछते हैं। मनुष्य जैसा बोवेगा वैसा काटेगा?"

भगवान् कश्यप बोले—"हत्या का बीज तो तुमने ही बोया।" दिति ने व्रीड़ा के साथ कहा—"अब मैंने बोया या आपने, भगवान् जानें। किन्तु जो हुआ सो हुआ। अब क्या करूँ, मुझे तो डर लग रहा है, कि उत्पन्न होते ही न जाने क्या-क्या उपद्रव

करेंगे। आप कितने यशस्वी तपस्वी हैं। आपके ही पुत्र तो कहलायेंगे। आपकी अपकीर्ति होगी।"

कश्यपजी ने कहा—"देवि! ये तो तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होंगे। दिति के पुत्र होने से इन्हें सब दैत्य ही कहकर जानेंगे। ये तो तुम्हारे ही नाम को बड़ा करेंगे।"

दिति ने दुखित मन से कहा—"अच्छी बात है, मेरे ही नाम से सही, किन्तु अब मैं क्या करूँ? ऐसे ही इन्हें गर्भ में धारण किये रहूँ या इन्हें उत्पन्न कर दूँ?"

कश्यपजी ने कहा—"देवि! भगवान् के विधान को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। सौ वर्ष हो गये, अब तुम इनको गर्भ से बाहर करो, नहीं तो ये अपने तेज से कहीं तुम्हें ही न जला डालें। ये साधारण जीव नहीं, भगवान् वैकुण्ठनाथ के ही प्रिय पार्षद हैं। इन्हें भगवान् के अतिरिक्त कोई मार भी नहीं सकता।"

दिति देवी ने अपने पति की आज्ञा शिरोधार्य की। उसने एक साथ ही दो बड़े तेजस्वी दुर्धर्ष पुत्र उत्पन्न किये। उनके उत्पन्न होते ही संसार में सर्वत्र अशान्ति छा गई, चारों ओर महान् उत्पात होने लगे। पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में, स्वर्ग में, सर्वत्र हाहाकार मच गया। सभी अपशकुन एक साथ ही होने लगे। पृथ्वी इन दैत्यों के जन्म से भयभीत होकर डरी हुई अबला की भाँति थर-थर काँपने लगी। उसके शिरोमुकुट और स्तन रूपी पर्वत हिलने लगे। पर्वतों के शिखरों पर खड़े हुए वृक्ष भूकम्प के कारण हिल रहे थे, उनमें से निरन्तर पुष्प गिर रहे थे, मानों भयभीत हुई भूमि देवी की वेणी खुल जाने से उसमें से मालती के पुष्प बिखर रहे हों। नगरों में निरानन्द छा गया। कुत्ता, सियार, गीदड़, उल्लू, चील, गिद्ध तथा और भी अपशकुन की सूचना देने वाले मांसभोजी जीव चीत्कार करते हुए कर्कश शब्द करने

लगे। सूअर, गधे, आदि अमङ्गल पशु अपने खुरों से इसी प्रकार पृथ्वी को खोदकर क्षत-विक्षत करने लगे, जिस प्रकार क्रूरकर्मा जुआरी पुत्र धन के लोभ से अपनी माता को पीड़ित करता है। देवताओं की प्रतिमायें रोने लगीं, उनके शरीरों में पसीने निकलने लगे, अङ्गों में कम्प होने लगे। गौएँ भयभीत होकर काँपने लगीं। उनके स्तनों का दूध डर से सूख गया। रक्त पानी हो गया। दुग्ध दुहते समय स्तनों से रक्त की धारा निकलने लगी। ब्राह्मणों के चित्त चंचल हो गये। उनको अपने योगक्षेम की चिन्ता होने लगी। वे धन संग्रह की चिन्ता करने लगे। रोग, शोक और वृद्धावस्था के भय से त्रिश्वेश्वर का विश्वास खोकर द्रव्य और पृथ्वी में गाड़ने लगे। इसी प्रकार और भी अनेकों पार्थिव अपशकुन हुए।

इसी तरह जलीय उपद्रव भी होने लगे। सभी समुद्रों का जल क्षुभित हो गया, उनमें ऊँची-ऊँची आकाश को छूने वाली ऊर्मियाँ उठने लगीं। समुद्र की गम्भीरता नष्ट हो गई, वह भयंकर शब्द करता हुआ उसी प्रकार रुदन करने लगा, जिस प्रकार बलवान् से सताया हुआ भयभीत कापुरुष ढाह मारकर रोता है। सभी जल जन्तु क्षुभित होकर जल के ऊपर आ गये। उनमें बड़ी-बड़ी चमकीली मणियों को धारण करने वाले सर्प, तीखी-तीखी दाढ़ों वाले मकर, सुवर्ण और चाँदी के समान चमचमाती मछलियाँ, बड़ी-बड़ी पीठ वाले कछुए, दीपों के समान तिमि, तिमिंगिल और तिमिङ्गिलगिल ऐसे दिखाई देते थे मानो आकाश में एक साथ असंख्यों चमकीले तारे उदित हुए हों। कहीं-कहीं का जल रक्त के सदृश लाल हो गया।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि का तेज मन्द ही नहीं पड़ गया, वे तेजहीन होकर अदृश्य-से हो गये, मानो सूर्य चन्द्र में एक साथ ही ग्रहण लग गया हो ग्रह सभी छिप गये। सर्वत्र अन्धकार का

साम्राज्य हो गया। यज्ञशालाओं की अग्नियाँ बुझ गईं धूम्रकेतु, अग्नि का धुआँ ही धुआँ दिखाई देता था। बहुत देखने पर भी अग्नि के दर्शन नहीं होते थे।

वायु ने आज प्रचण्ड पराक्रमी शूरवीर सेनापति का सा रूप धारण कर लिया। वह अपने सम्पूर्ण वेग से आँधी रूपी सेना को साथ लेकर चलने लगी। मार्गों के, पर्वतों के, नगर और ग्रामों के वृक्षों को उखाड़कर, तोड़कर जड़ मूल से नष्ट कर उसी प्रकार फेंकने लगी, जिस प्रकार शत्रु सेना वाले अपने प्रतिपक्षी सैनिकों का नाश करते हैं। साँय-साँय करती हुई आँधी सम्पूर्ण दिशा और विदिशाओं में छा गई। रज कण रूपी बाणों से उसने सभी को अन्धा बना दिया। गाँवों के छप्पर गिरने लगे, पत्थरों के घर हिलने लगे, समुद्रों में भरे जहाज डगमग-डगमग करके डोलने लगे, घोंसलों में बैठे पक्षी वृक्षों के गिरने से भयंकर शब्द बोलने लगे, इस प्रकार वायु ने वीभत्स रूप रखकर मानो प्रलय करने का संकल्प करके उद्योग आरम्भ कर दिया हो।

आकाश से उल्कापात होने लगे, शनि, राहु, मंगल आदि क्रूरग्रह, चन्द्रवृहस्पति आदि सौम्य ग्रहों तथा अन्य भी नक्षत्रों का असमय में उल्लङ्घन करके वक्रगति से चलकर अतिचार युद्ध करने लगे। सब दिशाओं में अग्नि की वर्षा होने लगी, कहीं रक्त की वृष्टि होने लगी। बिजलियों में गड़गड़ान-तड़तड़ान से प्रलय-कालीन दृश्य-सा उपस्थित हो गया। सम्पूर्ण संसार में महान भय की सूचना देने वाले धूम्रकेतु आदि अशुभग्रह दिखाई देने लगे।

इस प्रकार सर्वत्र भय छा गया, महान् उत्पातों को देखकर प्राणी डर गये, सभी ने समझा मानो अकाल में ही प्रलय होने वाली है। सब लोग तो इन उत्पातों के कारण से अभिज्ञ थे, अतः वे तो भाँति-भाँति की कल्पनायें करने लगे, किन्तु सनकादिक मुनियों को ब्रह्माजी को और देवताओं को तो विदित ही था,

ये असुर रूप में उत्पन्न हुए जय-विजय के जन्म के कारण ही सब उत्पात हो रहे हैं।

वे दोनों दितिपुत्र दैत्य उत्पन्न होते ही उसी प्रकार बढ़ने लगे, जिस प्रकार वैशाख ज्येष्ठ की दुपहरी की आँधी में बवण्डर बढ़ता..

है। उनके बढ़ने को पक्ष, मास, वर्ष की आवश्यकता नहीं थी। क्षण-क्षण में बढ़कर पर्वत के समान हो गये। उनके पैर पृथ्वी पर पड़ते थे और सिर आकाश को छूता था। पादत्राण पृथ्वी में सटे थे और सिर का मुकुट स्वर्ग में चमकता था। अंजन के पहाड़ के समान लम्बायमान, जल भरे बादलों के समान, खड़े हुए समुद्र के समान वे राक्षस दिखाई देते थे।

ब्रह्माजी तो सबके पितामह ही ठहरे। अपने पौत्र कश्यप के घर पुत्र जन्में हैं, यह सुनकर वे अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ घुमाते, चारों मुखों से वेद की ऋचाओं को गाते, हाथ में कमण्डलु लिये, बगल में पञ्चाङ्ग दबाये, हंस पर चढ़े हुए दिति के आश्रम के समीप आये। अपने बूढ़े ससुर को देखकर दिति ने घूँघट मार लिया। उन लम्बे तड़ंगे बच्चों को देखकर ब्रह्माजी डर गये। दिति ने उन्हें भगवान् कमलासन के चरण कमलों में डाला। उनके लेटने से सम्पूर्ण पृथ्वी ढक-सी गई। उनके सिरों पर हाथ फेरते हुए ब्रह्माजी दिति से बोले—"यह जो तेरा छोटा लड़का है, जो पहिले उत्पन्न हुआ है, इसका नाम हिरण्याक्ष होगा और जो बड़ा है, पीछे उत्पन्न हुआ है, इसका नाम हिरण्यकशिपु होगा।"

इस पर विदुरजी ने मैत्रेयजी से पूछा—"प्रभो! जो पहिले उत्पन्न हुआ है, उसे तो बड़ा होना चाहिये और जो पीछे उत्पन्न हुआ है उसे छोटा। फिर ब्रह्माजी ने पहिले वाले को छोटा और पीछे वाले को बड़ा क्यों कहा?"

इस पर मैत्रेय मुनि ने कहा—"विदुरजी! बड़ाई छुटाई गर्भ से हिसाब से होती है। हिरण्यकशिपु गर्भ में पहिले आया था। इसके पश्चात् हिरण्याक्ष आया। हिरण्यकशिपु के निकलने के मार्ग को हिरण्याक्ष रोके हुए था। जब वह गर्भ से निकल गया, तब हिरण्यकशिपु निकला। इसलिये गर्भ में पहिले आने वाला पीछे

उत्पन्न होने पर भी बड़ा ही हुआ और पीछे गर्भ में आने से पहिले उत्पन्न होने पर भी यह छोटा कहाया।"

विदुरजी ने कहा—"हाँ महाराज ! मेरा संशय दूर हुआ फिर क्या हुआ ?"

मैत्रेयजी बोले—"फिर क्या हुआ, नाम रखकर ब्रह्माजी तो अपने लोक को चले गये और ये लोग बढ़कर संसार में उपद्रव करने लगे। तीनों लोकों को अपने वश में करने के लिये लड़ाई-झगड़ा करते हुए लोकपालों के यहाँ जाने लगे।"

छप्पय

दिति देवी के पूत भूत सम पलपल बाढ़े।
सिरतें छूयें स्वर्ग होहिं जब दोनों ठाढ़े॥
सब डरिकें भग जायँ दूरितें दैत्यनि देखें।
तेज हीन है जायँ जिन्हें स्वाभाविक पेखें॥
करहिं उपद्रव नित नये, तीनि लोक वश महँ करें।
कबहुँ न कोई कछु कहें, दुबके देव रहें डरें॥

हिरण्याक्ष का वरुण लोक में गमन

[१४३]

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः ॥*
(श्रीभा० ३ स्क० १७ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

हिरनकशिपु ने जगत् करयो वश विधिके वरतें।
हिरण्याक्ष ले गदा विजय कूँ निकस्यो घरतें॥
स्वर्गलोक महँ गयो भयो कोलाहल अतिशय।
इत उत सुर सब भगे छिपे सबकूँ भारी भय॥
सुरनि नपुंसक समुझि खल, दैत्य हँस्यो गर्जन करी।
धूमिधामकें चलि दयो, देव विपति सिरतें टरी॥

विनाश का मूल कारण है मद। मद होता है बल से। धन बल, जन बल, ऐश्वर्य बल तथा शारीरिक बल इस प्रकार बल अनेकप्रकार का होने पर भी उसमें मुख्य होता है अहंकार।

---

* मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"हे तात! महाबली हिरण्याक्ष अनेकों वर्षों तक समुद्र की तरल तरङ्गों पर अपनी फौलाद की गदा से प्रहार करता हुआ वहीं घूमता रहा। इस प्रकार घूमता फिरता वह वरुणजी की राजधानी विभावरी नामक नगरी में पहुँचा।"

"मैं ऐसा हूँ। मेरे सामने कौन ठहर सकता है ?' दूसरों का अपमान मनुष्य अहंकार के ही कारण करता है। वही वल यदि आध्यात्मिक हो और सर्वत्र अपने इष्ट को ही समझे, तब वह जीव मात्र का सम्मान करने लगता है, फिर उसके लिये संसार में कोई भी निन्दनीय या उपेक्षणीय नहीं रह जाता। किन्तु पृथक् दृष्टि वाले पुरुष जिन्हें अपने से अधिक ऐश्वर्यशाली शूरवीर या पराक्रमी समझते हैं, उन्हें परास्त करने के लिये सतत प्रयत्न करते रहते हैं। वे चाहते हैं—हम भी सबसे श्रेष्ठ रहें। हमारी बराबरी का दूसरा कोई भी न रहे। सभी हमारा सम्मान करें, सभी हमारे सामने घुटने टेकें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के भी ऐसे ही भाव थे।

उत्पन्न होते ही वे बढ़कर बली बन गये। पहिले उन्होंने समस्त पृथ्वी के शूरवीरों को अपने वश में किया, फिर वे इधर-उधर अन्य लोकों में घूमने लगे। दोनों भाइयों में बड़ा स्नेह था, एक दूसरे को हृदय से प्यार करते थे। छोटा भाई सदा बड़े भाई की आज्ञा में रहता। महामुनि मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! हिरण्यकशिपु का चरित्र तो नृसिंहावतार के प्रसंग में वर्णन होगा। क्योंकि उसका बध तो भगवान् नरहरि ने ही अपने तीक्ष्ण नखों द्वारा किया था। यहाँ तो मैं आप को सूकरावतार की कथा सुना रहा हूँ। हिरण्याक्ष को वाराह भगवान् ने ही मारा था, अतः पहिले उसी को सुनिये।"

हिरण्याक्ष ने सोचा—नीचे के सातों लोक और पृथ्वी के सम्पूर्ण देश तो हमारे अधीन हो गये, अब स्वर्ग को भी अपने वश में कर लेना चाहिये। आठों लोकपालों को जीत कर हमें तीनों लोकों का एक मात्र शासक बनना है। इसलिये पहिले देवताओं के राजा इन्द्र पर ही चढ़ाई करें। यह सोचकर वह शचीपति शक्र से युद्ध करने स्वर्ग की ओर चला। उसके भाई ने

कहा भी—"कुछ सेना साथ में ले जाओ।" इस पर उ
हेलना के स्वर में कहा—"सेना तो वे साथ लेते हैं, जिन्हें
बाहुबल का भरोसा न हो। मेरी ये दोनों फरकती हुई भु-
असंख्यों सैनिकों का एक साथ ही संहार करने में समर्थ
सेना की क्या आवश्यकता ?"

यह कहकर वह अपने बाहुबल के मद में चूर हुआ
तुच्छ समझता हुआ, अपनी गदा को हाथ में लेकर
स्वर्ग की ओर चल दिया। क्रोध के कारण उसकी भौंहें
थीं, काले-काले ओठ फरक रहे थे। बड़ी-बड़ी बाहुओं
को घुमाता हुआ, पैरों से पृथ्वी को कँपाता हुआ, अपनी
दहाड़ से दिशाओं को गुञ्जाता हुआ, स्वर्ग के
पहुँचा। उसे देखते ही सुरलोक की अप्सरायें डरकर
गन्धर्व अपने साज समाज को छोड़कर पहाड़ों की
छिप गये। विमानों में घूमने वाले देवता विमान छोड़कर
इन सबको भय से भागते देखकर हिरण्याक्ष हँसकर
सुधर्मा सभा की ओर चला। सुर सैनिकों ने जब इस
वरदान, बल, वीर्य और शौर्य के मद से उन्मत्त हुए
सभा की ओर ही जाते देखा, तो सब इसके डर से अस्त्र-
छोड़कर भाग खड़े हुए। कुछ ने दौड़कर देवराज से निवेदन
"देव ! दितिपुत्र हिरण्याक्ष चरणों के नूपुरों से छम-छम
वैजयन्ती माला पहिने और कंधे पर गदा रखे इधर ही आ
तब तो देवराज की सभी सिटिह्नी भूल गईं। वे पास
देवी से बोले—"प्रिये ! अब क्या किया जाय ?"

शची ने कहा—"प्राणनाथ ! गान बन्द करो।
चलो, मैं तुम्हें उपाय बताऊँगी।"

भय से काँपते हुए देवराज ने यही किया। अप्सर
कहा—"तुम सभाभवन के ऊपर चली जाओ" गन्धर्वों से

"तुम पीछे के द्वार से अपने-अपने यहाँ जाओ।" इतना कहकर शची के साथ ये अन्तःपुर में चले गये। फिर भी देवराज डरे हुए थे। तब शची ने कहा—"आप इतने डरे क्यों हैं ?"

इस पर शतक्रतु देवराज बोले—"देवि! बलवान् दुष्टों से डरते ही रहना चाहिये। मैं लोकपितामह ब्रह्माजी के मुख से सुन चुका हूँ—इस दुष्ट को भगवान के सिवाय कोई जीव नहीं मार सकता। उद्धत ही जो ठहरा, न जाने क्या उपद्रव कर बैठे।"

इस पर शची देवी ने अपनी हँसी रोककर कहा—"तब एक काम करो। लो मेरी चूड़ी पहिन लो। घूँघट मारकर बैठ जाओ। चूड़ियों की खनखनाहट सुनकर कैसा भी क्रोधी हो, उसका क्रोध भाग जाता है और स्त्री समझकर कोई लड़ाई झगड़ा भी नहीं करता।"

देवराज बोले—"देखो, वह वीर है। वीर लोग कभी अन्तः-पुर में नहीं आते। वे तो सम्मुख युद्ध करते हैं। अतः बिना चूड़ी पहिने ही-तुम्हारे समीप रहने से ही-मेरी रक्षा हो जायगी। समय की बात है —कभी गाड़ी नाव पर कभी नाव गाड़ी पर। कभी मेरे आश्रय में रहने से इसी प्रकार तुम्हारी रक्षा हो जायगी।"

इन्द्र और शची की ये बातें हो ही रही थीं, कि इतने में ही अपनी भयंकर गदा को घुमाता हुआ हिरण्याक्ष इन्द्र की सभा में घुसा। सभा को शून्य देखकर वह इन्द्रासन पर जाकर बैठ गया और बड़े जोरों से गर्जना करने लगा। उसकी गर्जना से सभा गूँजने लगी। प्रतीत होता था मानों सभा इस शब्द से ही गिर जायगी। जब उसकी गर्जना को सुनकर भी कोई उसके सम्मुख नहीं आया, तो वह उठकर यह कहता हुआ चल दिया कि, 'स्वर्ग में सब नपुंसक ही रहते हैं। शूरवीर तो एक भी देखने में नहीं आया। यदि कोई शूरवीर होता, तो सामने आता।' भीतर

बैठे-बैठे इन्द्र यह सब सुन रहे थे। उन्हें यह बात लगी तो बहुत बुरी, किन्तु करते क्या ? उसे जीतने में तो वह सर्वथा अपने को असमर्थ पाते थे।

इस पर हिरण्याक्ष स्वर्ग मे अपना शौर्य वीर्य प्रदर्शित करके सुमेरु के समीप आया। उसके तो लड़ाई के लिये हाथ खुजा रहे थे। इसलिये उसने सुमेरु के सुवर्णमय शिखरों को उखाड़-उखाड़कर फेंकना आरम्भ किया। सुमेरु बड़े घबड़ाये कि यह भूत कहाँ से आ गया। वे शरीर धारण करके उसके समीप आये और बोले—"हे दिति वंशावतंस राजन्! यह आप व्यर्थ का कार्य क्यों कर रहे हैं ? इन शिखरों को तोड़ने से आपको क्या लाभ होगा ?"

हिरण्याक्ष ने डाँटकर कहा—"तुम पूछने वाले कौन होते हो ? हमारी जो इच्छा होगी सो करेंगे। हमने सुना है सुमेरु सबसे श्रेष्ठ है। इसके बराबर ऊँचा और कोई विशाल नहीं। इसलिये हम इससे युद्ध करना चाहते हैं। लड़ाई के लिये हमारे हाथों में खुजली हो रही है ?"

हाथ जोड़कर विनीतभाव से डरते-डरते सुमेरु ने कहा—"हे शूरवीरों के मुकुटमणि राजन्! मेरा ही नाम सुमेरु है। अवश्य मैं सबसे बड़ा हूँ, किन्तु आपके साथ युद्ध करने में अपने को मैं असमर्थ समझता हूँ। मेरा क्या साहस जो आपके साथ युद्ध करने का विचार कर सकूँ।"

तब उस दैत्य ने गरज कर कहा—"अच्छी बात है यदि तुम युद्ध नहीं कर सकते तो मेरे अनुरूप युद्ध करने को कोई बली योद्धा ही बताओ।"

सुमेरु बड़े घबड़ाये। अब इसे किसका नाम बताऊँ ? देवराज तो इसका नाम सुनकर ही भाग गये। कौन इससे युद्ध कर सकता है ? यदि किसी का नाम न बतावेंगे तो यह मानेगा नहीं।

इसीलिये सोच समझकर सुमेरु बोले—"राजन्! मैं तो समझता हूँ—समुद्र अगाध है, गंभीर है, महान् है। आपको सम्भव है, वह युद्ध में सन्तुष्ट कर सके।"

इतना सुनते ही वह दैत्य बड़ी शीघ्रता के साथ समुद्र की ओर चल दिया। नद-नदीपति परम गंभीर महासमुद्र को भयंकर गर्जना करते देखकर उसने समझा यह मुझे लड़ने के लिये ललकार रहा है। अतः वैसे ही क्रीड़ा के निमित्त वह समुद्र में घुस गया। वह शूरवीर था इसलिये पहिले प्रहार करना नहीं चाहता था। उसके घुसते ही समुद्र में रहने वाले वरुणजी के दूत डरकर इधर-उधर भागने लगे। यद्यपि उसने किसी को मारा नहीं प्रहार नहीं किया फिर भी उसके तेज से ही प्रभावहीन होकर वरुण देव के अनुचर भाग खड़े हुए। समुद्र की लहरें उसके शरीर में टक्कर खाने लगीं। उसने समझा समुद्र अपनी तरल तरंगों से मेरे ऊपर प्रहार कर रहा है। अतः उसने समुद्र की ऊँची-ऊँची उठती हुई लहरों पर अपनी भीषण गदा का प्रहार करना आरम्भ कर दिया। ज्यों ही वेग से वह गदा मारता, त्यों ही जल बहुत ऊँचा उछल कर उसके शरीर पर गिर पड़ता। इससे वह हँस पड़ता और फिर अधिक बल लगाकर प्रहार करता। उसके लिये यह एक खेल हो गया। इसमें उसे बड़ा आनन्द आने लगा। अतः वह वर्षों इसी प्रकार लहरियों के साथ खेल करता रहा मानों समुद्र से युद्ध कर रहा हो।

इस प्रकार उदधि के साथ क्रीड़ा करता हुआ वह लोकपाल वरुण की दिव्य विभावरी नामक नगरी में जा पहुँचा। उसे वरुणलोक में आया हुआ देखकर वहाँ के भी सब वरुणदेव के गुह्यक किन्नर आदि अनुचर इधर-उधर भागने लगे। वरुणजी तो बड़े बूढ़े ही ठहरे। वे अपनी सभा में ही बैठे रहे। उन्होंने सोचा—इस बलवान् के सामने से भागकर भी कहाँ जा सकते

है। आजकल इसका समय है, अतः इसे समझा बुझाकर यहाँ से

विदा कर देना चाहिये। यही सब सोचकर वे अपने आसन पर बैठे रहे।

छप्पय

स्वर्गलोक तें निकसि दैत्य जलनिधि ढिँग आयो ।
सुनि गर्जन गम्भीर समुझि ललकार रिस्यायो ॥
गदावेग तें तरल तरंगनि तोरत फोरत ।
वरुण लोक महँ गयो मत्तमद मूँछ मरोरत ॥
अद्भुत जान्यो जन्तु जिह, जलचर जीव भगे डरे ।
किन्तु वरुणजी असुर लखि, सिंहासन तें नहिँ टरे ॥

—❀—

हिरण्याक्ष की वरुणजी से बातचीत

[१४४]

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकम्,
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन्प्रलुब्धं प्रणिपत्य नीचवत्,
जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १७ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

पहुँचि कर्‌यो उपहास विहँसि खलबचन उचार्‌यो ।
'लोकपाल डंडौत' लट्ठ सिरपै जनु मार्‌यो ॥
वरुणदेव ने कही—असुरपति इत कित आये ।
कैसे किरपा करी कहो कस भूप रिसाये ॥
को करिकें अपकार तुम, रहे जगत में कुशल बसि ।
वचन सरल मधुमय सुने, असुर अकड़ि बोल्यो बिहँसि ॥

बलवान् अधर्म निर्बल धर्म को दबा लेता है। अन्त में जय तो धर्म की होती है, किन्तु प्रबल अधर्म के द्वारा धैर्य और सहन-शक्ति की परीक्षा हुआ करती है। विपत्ति में भी जो

---

* मैत्रेयजी कहते हैं—"विदुरजी! वह दैत्य वरुणलोक में पहुँचकर वहाँ के स्वामी, सभी जलचरों के अधीश्वर श्रीवरुणजी को देखकर उसने उपहास पूर्वक हँसते हुए नीच पुरुष की भाँति उन्हें प्रणाम किया और बला—"हे राजराजेश्वर! मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिये।"

धर्म को नहीं त्यागता, सब प्रकार के कष्ट सहकर भी जो धर्म की रक्षा करता है, अन्त में धर्म उसकी भी रक्षा करता है। दृढ़ता से रक्षित धर्म ही इस लोक और परलोक में प्राणियों की रक्षा करता है।

जिस समय ऐश्वर्य तथा बलवीर्य के मद में उन्मत्त हुआ पुरुष अपने सदृश किसी को नहीं मानता, उस समय उसका अभिमान अत्यधिक बढ़ जाता है, पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है जब वह पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। जो अधर में लटकते रहते हैं, वहाँ व्यवहार तो चल सकता है, भगवान् नहीं मिल सकते। ऐसा न होता तो रावण, कुम्भकर्ण, दन्तवक्र, शिशुपाल तथा कंस आदि क्रूरकर्म करने वालों को मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती थी? हिरण्याक्ष का भी अहङ्कार पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। युद्ध के लिये किसी को सम्मुख आते न देखकर उसका दर्प आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। देवेन्द्र वज्रपाणि शचीपति ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ वीर समझे जाते थे, जब वे ही मुझे देखकर अन्तःपुर में छिप गये, तब मेरा सामना अब कौन कर सकता है? यही विचार कर हिरण्याक्ष समुद्र में होकर वरुण लोक में गया।

मैत्रेय मुनि कह रहे हैं—"विदुरजी! जब हिरण्याक्ष को देखकर वरुण लोक के निवासी इधर-उधर भागने लगे तब यह अभिमानी वीर भी किसी की ओर न देखता हुआ वरुणजी की सभा में पहुँचा। वहाँ वरुणजी अपने कुछ मंत्रियों के साथ सिंहासन पर विराजमान थे। एक तो वे वृद्ध थे, कश्यपजी भी उनका आदर करते थे, अतः वैसे ही व्यवहार वश हँसते हुए उनका अपमान-सा करते हुए, नीच पुरुष के समान इसने गदा को तानकर छाती फुलाकर अकड़ से साथ कहा—"दण्डौत वरुणजी!"

वरुणी इसके रुख से ही समझ गये—यह नीच मेरा अपमान करने आया है। यह दंडवत नहीं कर रहा है, अपितु मेरा तिरस्कार कर रहा है। किन्तु करते ही क्या, बलवान् की बात सहनी ही पड़ती है। अतः शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए वरुणजी ने प्रेमयुक्त संभ्रम के साथ कहा—"आइये, आइये, दैत्यराज ! बड़ी कृपा की, कहाँ से पधारे ? विराजिये, इस मणिमय दिव्य आसन को सुशोभित कीजिये।"

यह सुनकर वह दुष्ट बड़ी अवहेलना के साथ वहीं उनके सम्मुख खड़ा हो गया। अपनी विशाल गदा को टेककर उसके ऊपर दोनों हाथ और कपोल रखकर खड़े-खड़े ही कहने लगा—"इस समय मैं स्वर्ग से आ रहा हूँ, आपके ही पास आया हूँ। आपकी मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। अतः कुछ भीख माँगने को आपकी सभा में उपस्थित हुआ हूँ।"

वरुणजी तो सब समझ रहे थे, कि यह दुष्ट किसी न किसी बात को निमित्त बनाकर उलझना चाहता है। अतः उसे समझाते हुए बड़ी नम्रता से बोले—"आप बैठिये तो सही क्या बात है, यहाँ तो सब वस्तु आपकी ही है। अपनी वस्तु को किससे माँगना ?"

इस पर वह गर्व के साथ बोला—"नहीं मुझे आपके ये मणिमाणिक्य नहीं चाहिये। मैं बहुत दिनों से आपकी प्रशंसा सुनता आ रहा हूँ। मैंने सुना है, आपने पहिले एक बड़ा भारी राजसूय यज्ञ किया था, जिसका करना दूसरे लोगों को अत्यन्त ही कठिन है। क्योंकि राजसूय यज्ञ वही कर सकता है, जो अपने बाहुबल से समस्त वीरों के वीरता सम्बन्धी गर्व को खर्व कर सके, जो तीनों लोकों में सबसे बलवान् हो। आपने यह सब किया है। अपने वीर्य मद से मदमाते महारथियों के मद को चूर्ण किया है, दशों दिशाओं में आपकी कीर्ति व्याप्त है आप

सभी लोकपालों के अधीश्वर और सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। इसलिये मैं भी आपसे दो-दो हाथ करना चाहता हूँ। बहुत दिन से मुझे कोई लड़ने वाला नहीं मिला। जहाँ भी जाता हूँ, वहीं से लोग मेरा नाम सुनते ही भाग जाते हैं। अभी स्वर्ग गया था, मुझे देखते ही देवराज अन्तःपुर में छिप गये। तब फिर मैं आपके समीप आया। आप तो बलशाली हैं। वीर लोग युद्ध के लिये आये हुए को देखकर भागते नहीं, किन्तु उनका उत्साह और भी अधिक बढ़ जाता है। अतः आप मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिये। चिरकाल से युद्ध न मिलने से मेरे हाथ खुजला रहे हैं। बोलिये, मेरी इच्छा पूरी करेंगे?"

उस दैत्य के ऐसे दर्प पूर्ण कठोर तथा तिरस्कार युक्त वचन सुनकर वरुणजी को क्रोध तो बहुत आया, किन्तु उन्होंने बुद्धि के बल से उसका शमन किया और हँसते हुए बोले—"राजन्! जब हम भी आपके बराबर थे, तब ऐसे ही थे, जैसा कि आप कह रहे हैं। उस समय हमारे शरीर में नूतन रक्त था, नया उत्साह था, चढ़ती हुई अवस्था की उमंग थी। अब तो हम युद्ध करते-करते थक गये। इन लड़ाई-झगड़ों से विरक्ति भी हो गई। सब वस्तुओं का अन्त होता है। इतना युद्ध किया कि अब हम तृप्त हो गये हैं।"

हिरण्याक्ष ने अभिमान के साथ कहा—"युद्ध के लिये नहीं मेरे सत्कार के ही लिये आप लड़ें। मैं युद्ध की इच्छा वाला अतिथि आपके स्थान पर आया हूँ, अतिथि सत्कार के ही नाते कुछ अपना बल-पराक्रम दिखाइये। हम भी तो देखें आपने तीनों लोकों को किस प्रकार जीता है।"

भगवान् वरुणजी बोले—"भैया, युद्ध होता है बराबर बल वालों में। मेरी तुम्हारी क्या बराबरी। तुम्हारी चढ़ती हुई बढ़ी

अवस्था है। मैं अब पुराना हो चुका। हमारा-तुम्हारा युद्ध शोभा न देगा।"

दैत्य ने शीघ्रता से कहा—"कोई चिन्ता नहीं। बलवानों में बल ही देखा जाता है, वहाँ छोटे बड़े का विचार नहीं होता।"

वरुणजी ने कहा—"यह सत्य है कि बलवानों में वय का विचार नहीं होता, किन्तु तुम्हारे बराबर बल भी तो मुझमें नहीं है। मैं तो तुमसे बिना ही लड़े हारा हुआ हूँ।"

यह सुनकर असुर बहुत हँसा और मुँह बनाकर बोला—"अरे! आप की तो बड़ी प्रशंसा सुनी थी, हमें तो बड़ी आशा थी, आप अपने पैंतरे दिखावेंगे, कुछ बल पौरुष जतावेंगे, कुछ युद्ध का आनन्द चखावेंगे, सो आपने तो पहिले ही जूआ डाल दिया। आपने तो अपनी बढ़ी हुई कीर्ति पर पानी फेर दिया। दिगन्तव्यापी यश को धूल में मिला दिया। अच्छी बात है, आप युद्ध नहीं कर सकते, तो किसी ऐसे वीर का नाम बताइये जो मुझे युद्ध में सन्तुष्ट कर सके। या संसार में अब कोई योद्धा रहा ही नहीं ?"

यह सुनकर पश्चिम दिशा के अधीश्वर जलचरों के स्वामी भगवान् वरुण बोले—"भैया, अब मैं और किसे बताऊँ। श्रीमन्नारायण को छोड़कर और ऐसा कौन है जो तेरे बढ़ते हुए दर्प का नाश करके तुझे युद्ध में सन्तुष्ट कर सके।" यह सुनकर बनावटी आश्चर्य प्रकट करता हुआ अवहेलना के स्वर में दैत्य बोला—"ओहो! नारायण नाम का कोई देवता है क्या जो मुझसे युद्ध करने का साहस कर सके? उसका क्या पराक्रम है? कुछ बताइये भी तो सही, उसने किसी मेरे समान योद्धा से कभी युद्ध किया भी है?"

रोष के स्वर में वरुणजी बोले—"बच्चूजी! बहुत बढ़-बढ़ कर बातें मत बनाओ, आपे से बाहर मत हो, इतनी लम्बी

चौड़ी डींग मत हाँको, तुम्हें अभी भगवान् विष्णु से कभी पाला पड़ा नहीं। तुम जैसे कुत्तों को तो वे ऐसे ही पकड़कर चीर डालते

हैं, जैसे चटाई बनाने वाला एरका को चीर डालता है। उनका काम ही यही है कि, शिष्टों का पालन करना और दुष्टों का दमन

करना। उनके सामने पहुँचते ही सभी चौकड़ी भूल जाओगे। इतनी देर से यहाँ खड़े-खड़े जो चबर-चबर बक रहे हो, वहाँ तुम्हारी बोलती बन्द हो जायेगी। मुँह फाड़े कुत्ते और गीदड़ों के बीच में तुम्हारी लाश पड़ी दिखाई देगी। वहीं तुम जाओ। वहीं तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। उनके समीप जाने पर ही जीव की समस्त इच्छायें परिपूर्ण हुआ करती हैं।"

दर्प के साथ क्रुद्ध हुआ दैत्य बोला—"उस विष्णु का कैसा रूप है ? वह कहाँ रहता है ? मै उसके पास अवश्य जाऊँगा और युद्ध करके उसे रण में परास्त करूँगा। तुम उसका पता ठिकाना मुझे बताओ।"

वरुणजी बोले—"भैया, पता ठिकाना तो ठीक-ठीक हम भी नहीं जानते। उनका एक रूप हो तो बतावें भी। किसी एक ही स्थान मे रहते हों, तो निर्देश भी किया जा सकता है। उन्हें पाने की तेरे मन में उत्कट इच्छा होगी, तो उसे बताने वाले गुरु भी आपसे आप तुझे कहीं मिल जायँगे। उनकी खोज कर, उनको उत्साह के साथ ढूँढ़ने में लग जा। खोजते-खोजते कभी न कभी तो कहीं मिल ही जायँगे। बैठे-बैठे तो मिलते नहीं। उन्हीं का नाम लेकर उन्हीं को मनमें रखकर निकल पड़ो, तो पता लग ही जायगा। समय आने पर मिल ही जायँगे।"

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुर ! वह दुष्ट वरुण जी के मुख से ऐसी बात सुनकर भगवान् को खोजने के लिये निकल पड़ा।"

छप्पय—*लोकपाल हे आपु जगत् महँ यश बहु छायो।*
शौर्य वीर्य बल कीर्ति सुनी तुम्हरे ढिँग आयो॥
द्वै-द्वै होवें हाथ गदा मेरी सहि लीजे।
गदा युद्ध वा द्वन्द युद्ध की भिक्षा दीजे॥
वरुण हँसे बोले असुर ! ते दिन तो अब लदि गये।
लड़ंपीपति तोते लड़हिं, अब हम तो बूढ़े भये॥

हिरण्याक्ष को हरि दर्शन

[१४५]

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितम्,
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदात्,
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

को लक्ष्मीपति कहाँ रहे कैसे वो पावे।
किहि विधि वो बलवीर समरमहँ सम्मुख आवे॥
असुर सुनत रिस भर यो चल्यो श्रीहरिकूँ खोजत।
सम्मुख नारद लखे सुघड़ बीना कर शोभित॥
वर वीणा के सुरनि पै, गुन गावत गोविन्द के।
मत्त मधुप मकरन्द के, श्रीहरि पद अरविन्द के॥

जीव जब तक भगवान् की ओर बढ़ता नहीं, उन्हें पाने को उत्कंठित नहीं होता, तब तक भगवान् को बताने वाले सद्गुरु की प्राप्ति होती नहीं। गुरुदेव स्वयं सद्शिष्य की खोज में

---

* मैत्रेयजी विदुरजी से कह रहे हैं—"विदुर ! वरुणजी के मुख से विष्णु भगवान् की प्रशंसा सुनकर वह मद से मत्त हुआ दैत्य बड़ा प्रसन्न हुआ। वरुणजी के कथन की अवहेलना करता हुआ वह नारदजी से भगवान् का पता पाकर शीघ्रता पूर्वक पाताल लोक में घुस गया।"

घूमते रहते हैं। शिष्य को गुरु खोजना नहीं पड़ता। गुरु ही स्वतः शिष्य को खोज लेते हैं। शिष्य का काम तो एकमात्र चाह उत्पन्न करना है। उनकी ओर एक पग बढ़ाना है। अँधेरे ही में दृढ़ संकल्प करके निकल पड़ना है। भूले भटके मार्ग पर ही प्रयाण कर देना है। गुरुदेव तो दया के सागर होते हैं। हमें पथभ्रष्ट देखकर—विमार्ग की ओर जाते देखकर—वे प्रकट हो जायँगे और हमारे भावों को समझकर हमें निष्कंटक पन्थ का निर्देश कर देंगे। उन्हें कहीं से आना जाना तो है नहीं,वे तो सर्वत्र व्यापक हैं, जहाँ प्रेम देखते हैं, वहाँ प्रकट हो जाते हैं शुद्ध मन को उस वृत्ति के अधिष्ठातृदेव नारद हैं, जो भगवान् की ओर ले जाते हैं, जो हमें अपने इष्ट की ओर पहुँचाते हैं। चौदहों भुवनों में नारदजी की अव्याहत गति है। वे सर्वत्र जा सकते हैं। उनके लिये कुछ दुर्ज्ञेय नहीं, अगम्य नहीं। दैत्य हो, दानव हो, यक्ष हो, राक्षस हो, मनुष्य, पक्षी, कीट, पतंग कोई भी क्यों न हो, अधिकारी भेद से उसे भगवान् के सम्मुख पहुँचा देना यही उनका एकमात्र कार्य है। नाम है, उनका कलह प्रिय। कलह बिना सम्मिलन के–योग के–होती नहीं। अतः किसी भी प्रकार से कलह कराकर साधक को साध्य से मिला देते हैं। इसीलिये वे जगद्गुरु कहलाते हैं। सभी उनका समान भाव से आदर करते हैं।

शवलाश्व हर्यश्व ये दक्ष के हजारों पुत्र तपस्या करने गये। अधिकारी समझकर मूँड़ मुड़ाकर उन्हें संन्यासी बना दिया। ध्रुवजी घर से निकले ही थे, कि प्रकट हो गये और सिर पर हाथ फेर कर वैष्णवाग्रणी कर दिया। प्रह्लाद को माता के उदर में ही जिज्ञासा हुई। उदर में से वे जा नहीं सकते थे, अतः उनकी माँ को ही इन्द्र पकड़ ले गया। उसे उससे छुड़ाकर अपने आश्रम पर रखकर, उदर में ही बालक प्रह्लाद को उपदेश देकर प्रातः स्मरणीय और भक्तचूड़ामणि बना दिया।

कंस को उलटी पट्टी पढ़ाकर भगवान् से मिला दिया। इनके समस्त उद्योग जीवों को भगवान् के सम्मुख करने के होते हैं। कहीं वीणा बजाकर लोगों को रिझाते हैं, कहीं गुण गाकर उन्हें मुग्ध कर देते हैं। कहीं लड़ाई-भिड़ाई का सामान जुटाकर वहाँ से चम्पत हो जाते हैं, कहीं सप्ताह सुनते हैं, कहीं मन्त्र जपते हैं, कहीं दीक्षा देते हैं, सारांश कि जिस कार्य से भी लोक का कल्याण हो उसे करने में इन्हें हिचक नहीं, संकोच नहीं, लज्जा नहीं। आलस्य तो इनके पास फटकने नहीं पाता। सदा घूमते ही रहते हैं। एक जगह पैर टिकते ही नहीं। अभी सत्यलोक में हैं, क्षण भर में मर्त्यलोक में पहुँच गये। हाँ कहीं कथा कीर्तन भगवान् के दर्शन का आनन्द होता है, तो वहाँ जम जाते हैं। वहाँ इनका शाप भी बाधा नहीं पहुँचाता। नारदजी की कृपा के बिना जीव न कोई परमार्थ कार्य कर सकता है, न ज्ञानी हो सकता है और न भगवान् को ही प्राप्त कर सकता है। ये कर्मकाण्ड में भी निष्णात हैं, योगशास्त्र के भी आचार्य हैं, योग के भी प्रवर्तक हैं, भक्तिमार्ग के भी विशेषज्ञ हैं और ज्ञानियों के भी चूड़ामणि हैं। सत्यनारायण जी की कथा सुननी हो तो भी 'एकदा नारदोयोगी परानुग्रहकांक्षया' से ही आरम्भ होती है, इन्हें बुलाने की आवश्यकता नहीं। तुम भगवान् की ओर बढ़ो वे स्वयं ही तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होंगे।

मैत्रेयजी कह रहे हैं—"विदुरजी! जब भगवान् वरुणदेव से उस दैत्य ने वैकुण्ठनाथ विष्णु के बल की प्रशंसा सुनी तो वह उनसे ही लड़ने, उन्हें ही खोजने, उनका ही स्मरण करते हुए ऊपर की ओर चला। अब उसे एक ही धुन थी कि विष्णु से साक्षात्कार हो, एक ही टेक थी—विष्णु मिलें तो उनसे दो-दो हाथ हों। यह सोचता हुआ जा ही रहा था कि आकाश से

जटायें हवा के साथ उसी प्रकार फहरा रहीं थीं, मानों कल्प-वृक्ष के ऊपर अमर बेल हिल रही हो। उनके मस्तक पर वैष्णवोचित तिलक लगा हुआ था। कंठ में तुलसी की मालायें शोभा दे रही थीं। पीत वस्त्र वायु से इस प्रकार हिल रहा था, मानो आकाश में बिजली चमक रही हो। स्वर ब्रह्म विभूषित वीणा हाथ में उसी प्रकार कसकर पकड़े थे, जिस प्रकार स्नेहमयी माँ अपने बच्चे को गोद में चिपकाये रहती है। दूसरे हाथों में करताल थे, जो परस्पर में लड़ते हुए निरन्तर उन्हें कलह का स्मरण कराते हुए भगवन्नाम उच्चारण का पाठ सा पढ़ा रहे थे। अपने ध्यान में मग्न हुए राम, कृष्ण गुन-गान करते हुए नीचे उतर रहे थे। इधर यह दैत्य कंधे पर गदा रखे, कोयले के पल्लवयुक्त पहाड़ के समान, जल भरे मेघ की भाँति आकाश में उड़ रहा था। नारद जी की दृष्टि उसके ऊपर पड़ी, देखते ही खिल उठे। बड़ा स्नेह प्रकट करते हुए बोले—"ओ हो! कौन? दैत्यराज! हिरण्याक्ष जी! धन्यवाद-धन्यवाद, सुस्वागतम्। आप इधर-किधर भटक पड़े? कहाँ की तैयारियाँ हैं? किस पर धावा बोल दिया?"

यह सुनकर गर्वयुक्त नम्रता से प्रणाम करते हुए दैत्य बोला—"नारद जी! क्या बतावें, संसार सूरवीरों से शून्य हो गया। इन देवताओं को तो व्याकरण शास्त्र वाले भी नपुंसक ही बताते हैं, किन्तु आजकल तो मुझे सभी नपुंसक दिखायी देते हैं। कोई मेरे सामने आता ही नहीं। देखिये इन्द्रलोक में गया। इन्द्र देखते ही अन्तःपुर में शची के समीप छिप गया और भी लोकों में गया कोई सम्मुख ही नहीं आया। सुना था—वरुण सब लोकपालों में श्रेष्ठ हैं, शूरवीर हैं, त्रैलोक्य विजयी हैं, शत्रु संहारी हैं, किन्तु मुझे देखते ही उन्हें भी ज्वर चढ़ गया। गिड़गिड़ाने लगे बार-बार युद्ध को ललकारने पर भी टस में मस न हुए। कहते रहे—"मैं तुमसे कैसे

लड़ सकता हूँ, बल में तो मैं तुम्हारे पसंगे के भी बराबर नहीं।"

नारदजी ने कहा—"तब फिर क्या हुआ ?"

अवहेलना के स्वर में असुर बोला—"हुआ क्या ? मैंने उसे फिर एक डाँट बताई कि या तो लड़ो या मुझसे जो लड़ सके ऐसे किसी शूरवीर का नाम बताओ। इस पर उसने विष्णु नाम के किसी देवता की बड़ी प्रशंसा की। अब मैं उस विष्णु को ही खोजने जा रहा हूँ। वरुण ने बताया कि वह बहुरूपिया है। जब चाहे जैसा रूप बना लेता है। उसका कोई एक घर नहीं, कभी किसी को कहीं मिल जाता है, कभी कहीं। यह भी कहा कि वह गुण रहित है। उसी की खोज में जा रहा हूँ, कहीं मिल जाय, तो मेरी मनोकामना पूर्ण हो जाय।"

नारदजी ने कहा—"तब फिर इधर-उधर कहाँ जा रहे हैं ?"

दैत्य ने कहा—"सुना है, वह वैकुण्ठ में अधिक रहता है। उसका सोने का स्वभाव बहुत है। एकान्त समुद्र में सर्प के ऊपर सोता रहता है। वैकुण्ठ में न मिला तो क्षीर सागर में जाऊँगा।"

नारदजी हँसे और बोले—"आप उन्हें न वैकुण्ठ में पावेंगे न क्षीर सागर में। वे तो अभी-अभी मेरे सामने सूकर बनकर पाताल में गये हैं।"

चौंककर दैत्य बोला—"अरे, सूकर क्यों बन गया ? तभी वरुण जी ने कहा था वह बहुरूपिया है। राम-राम ! छिः छि ! सूकर काहे को बना जी ?"

नारद जी बोले—"अब, भैया ! क्यों का क्या उत्तर ? उनकी इच्छा। वे जब जैसा चाहते हैं रूप बना लेते हैं।"

दैत्य बोला—"अच्छा, यह तो बताओ। वह पाताल में क्यों गया है। मेरे डर से छिपने गया है क्या ?"

नारदजी बोले—"भैया ! वे डरते तो किसी से भी नहीं तुम

बुरा मानो चाहे भला। तुम्हारे जैसे हजारों भी दैत्य आ जायँ, तो वे चुटकी में उड़ा दें। तुम उनके सामने किस खेत की मूली हो ? तुम्हारी तो बिसात ही क्या, काल भी उनसे डरता है ये डरकर नहीं गये हैं। पाताल में गई हुई पृथ्वी का उद्धार करने गये हैं।"

दैत्य क्रोध के स्वर में बोला—"नारदजी ! अब आप भी वरुण की तरह बकवाद करने लगे। मैं आपके इस गले में पड़े जनेऊ का और इस तुमड़ी का संकोच करता हूँ, इसी से कुछ बोलता नहीं। विष्णु मेरा कुछ नहीं कर सकता। मेरे सामने उसे हारना पड़ेगा। हारकर उसे अपना लोक मुझे देना पड़ेगा।"

नारद जी प्रसन्न हुए और मन ही मन सोचने लगे— "भगवान् तो अपने भक्तों से सदा हारे ही रहते हैं। ऊपर से बोले—"दैत्यराज ! समय बता देगा कि तुम उन्हें हराओगे या वे तुम्हें हरावेंगे। देरी करने का काम नहीं। अभी सीधे पाताल लोक में चले जाओ। वहाँ उनके सम्मुख अपनी गदा का कौशल दिखाओ। वे तुम्हारे हाथों की खाज को ही न मिटावेंगे, किन्तु खोपड़ी की खाज को भी सफाचट कर देंगे। खाज ही न मिटावेंगे, खाज जहाँ होती है उसे भी मिटा देंगे शीघ्र जाने से ही मिलेंगे, नहीं तो पृथ्वी को लेकर चले आयेंगे।"

उपेक्षा के स्वर में दैत्य बोला—"पृथ्वी लेकर चले आना कोई हँसी का खेल है ? पृथ्वी को तो लोकपितामह ब्रह्माजी ने हम असुरों को दे दिया है। विष्णु हमारे यहाँ से लाने वाला कौन होता है ? मैं अभी जाता हूँ और उसे यमपुर का रास्ता दिखाता हूँ।"

नारदजी बोले—"अच्छी बात है, जय श्रीकृष्ण ! जाइये और मृत्यु शैया पर सदा के लिये शयन कीजिये।"

इतना कहते-कहते नारदजी बह गये बह-गये, क्षण भर में

अदृश्य हो गये। नारदजी के अन्तर्धान हो जाने के अनन्तर वह दैत्य रसातल की ओर चला।"

वहाँ जाकर क्या देखता है कि अपनी शुभ्र दाढ़ों के अग्र भाग पर पृथ्वी देवी को रखे वाराह भगवान् भागे जा रहे हैं। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानों विशाल गजराज ने क्रीड़ा के लिये छत्राक नामक बरसाती लकड़ी के फूल को उखाड़कर अपनी सूँड़ में दाब लिया हो। भगवान् के दोनों अरुण नेत्र उसी प्रकार चमक रहे थे, जिस प्रकार दिव्य विमान में दोनों ओर लगा हुआ विद्युत् का लाल काँच वाला प्रकाश चमकता हो। वे अपने तेजोमय प्रभावशाली प्रकाश से असुर की प्रभा को हीन बना रहे थे उन्हें इस प्रकार दाढ़ों पर पृथ्वी रखकर भागते देखकर असुर ठहाका मारकर बड़े जोर से हँसा और सोचने लगा— "रूप तो बड़ा विचित्र बनाया है। यही मायावी विष्णु प्रतीत होता है, नहीं तो सूकर तो इतना बड़ा, इतना पराक्रमी होता नहीं। फिर वाराह तो वन का जन्तु है, यह तो जल में तैरता है। अवश्य ही इसने माया से यह रूप बनाया है। कुछ भी हो आज मैं इसे रण में भली प्रकार छकाऊँगा। सीधा यमपुर पहुँचाऊँगा।" यह सोचकर वह वाराह भगवान् से बोला—"अरे ओ सूअर! खड़ा रह! खबरदार आगे बढ़ा तो! तू यह दाढ़ों पर क्या लिये जाता है। अरे, यह पृथ्वी तो ब्रह्माजी ने हमें दी है। इसे ले जाने वाला तू कौन है—मैं समझ गया हूँ, तू विष्णु है। तू ही छल से, बल से, माया से दैत्यों को मारता रहा है आज मेरे सामने तू अपनी सब माया भूल जायगा। आज मेरी गदा से तेरे सिर के सहस्रों टुकड़े हो जायँगे। आज तू अपनी करनी का फल भोगेगा। आज मैं अपने सभी वंशजों का बदला तुझे मारकर चुकाऊँगा। मेरे सामने से तू भाग नहीं सकता आज मैं तुझे यमपुर का रास्ता दिखाऊँगा। देवता तेरी चापलूसी करते रहते हैं, ब्राह्मण तेरे गुण गाते

रहते हैं; आज उन सबके मूलभूत तुझे मारकर उन सबको आश्रयहीन अनाथ बना दूँगा।" इस प्रकार अनेक कठोर-कठोर बातें कहकर वह वाराह भगवान् को क्रोध दिलाने लगा, किन्तु भगवान् तो सम्हले हुए थे। उन्हें डरी हुई, भय से काँपती हुई पृथ्वी की चिन्ता थी। इसलिए उसकी बातों को अनसुनी करके वे शीघ्रता के साथ जल से बाहर निकल आये।

छप्पय

हिरण्याक्ष मुनि लखे मन्द हँसि कीन्हों आदर।
दैत्यराज कित चले, कहैं नारद मुनि सादर॥
बोल्यो—"मुनि! ममहाथ खुजावहिं युद्ध दिवाओ।
कैसे हूँ मुनिनाथ! विष्णु ते मोहि मिलाओ॥
मुनि बोले—पाताल महँ, हरि बराह वपु धारिकें।
विचरहिं नाशहिं गर्व कूँ, असुर! तोहि वे मारिकें॥

हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् की कहा-सुनी

[१४६]

सत्यं वयं भो वन-गोचरा मृगा,
युष्मद् विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।
न मृत्युपाशैः विमुक्तस्य वीरा,
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥※
(श्रीभा० ३ स्क० १८ अ० १० श्लोक)

छप्पय

विष्णु वीर्य बल सुनत चल्यो निज गदा घुमावत ।
श्रीवराह भू लिये लखे सम्मुख ही आवत ॥
बोल्यो सूअर ! शूर ! कहाँ कूँ भाग्यो जावे ।
पूँछ दबाये भजत लाज तोकूँ नहिँ आवे ॥
विकट असुर को रूप लखि, पृथिवी देवी डरि गई ।
तातैं सो हरि ने तुरत, जल के ऊपर धरि दई ॥

श्रीहरि से किसी प्रकार सम्बन्ध हो जाना ही जीव का परम पुरुषार्थ है, तिरस्कार और सत्कार तो शरीर सम्बन्ध

※ हिरण्याक्ष के ललकारने पर वाराह भगवान् ने उनसे कहा—"भैया ! तू ठीक कहता है, हम वन में फिरने वाले मृग ही हैं किन्तु तुझ जैसे कुत्तों को ढूढ़ते हैं। हे अभद्र ! जो वास्तव मे वीर होते हैं, वे तुझ जैसे अभागे जीव की आत्मश्लाघा की ओर ध्यान नहीं देते, क्योंकि तू तो मृत्युपाश में बँधकर ही ऐसी बातें बक रहा है।"

से होता है। उसने हमारा वहाँ सत्कार किया। हम गये तो इसने हमारा वाग्बाणों से बड़ा तिरस्कार किया। यहाँ हमारा कहने से प्रयोजन है शरीर से। आत्मा तो नित्य शुद्ध निर्लेप और सम्मान-असम्मान से परे है। इसका कोई क्या कैसे सत्कार और तिरस्कार कर सकता है? इसलिये भगवान् को कैसे भी भजे उसका फल शुभ ही होता है। इच्छा से, अनिच्छा से अग्नि के ढिंग पहुँच जाओ तो अन्धकार शीत और भय—ये तीनों बिना प्रयत्न के ही भाग जाते हैं। इसी प्रकार भगवान् के समीप जाते ही संसार के सभी बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

अहा! वे दैत्य बड़भागी हैं वे पूजनीय वन्दनीय श्लाघनीय और आदरणीय हैं, जो भगवान् को शत्रु समझकर उन पर प्रहार करते हैं और भगवान् भी उन्हें खरी-खोटी सुनाते हैं, उनके अङ्गों का स्पर्श करते हैं, उनसे युद्ध करते हैं और अपने हाथों से मार-कर देवदुर्लभ अपना धाम देते हैं। हमारा तो विचार है भगवान् का अवतार असुरों के ही हित के लिये होता है। जो भक्त हैं, शरणापन्न हैं, परमहंस वैष्णव हैं, नित्य हैं उनके सम्मुख तो नाम रूप से सदा भगवान् रहते हैं। जिनके मुख में सुमधुर भगवन्नाम सदा निवास करता है उन्हें दर्शनों की तथा अन्य रूप की क्या आवश्यकता? भगवान् में अभिन्न सम्बन्ध हैं, किन्तु जो क्रोध करके सदा उनके रूप का चिन्तन करते हैं, उनको गाली देना चाहते हैं, लड़ाई-भिड़ाई करके उनसे दो-दो हाथ करना चाहते हैं, दया-सागर प्रभु उन्हीं के ऊपर कृपा करके अनेक रूपों को रखते हैं, उनकी मनोकामना पूर्ण करके उनका उद्धार करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी! नारद जी से प्रभु का पता पाकर वह दैत्य सीधा रसातल में पहुँचा। वहाँ उसने भग-वान् को भू-देवी को लिये हुए भागते देखा तो वह भी उनके पीछे लग लिया। भगवान् मुट्ठी बाँधकर भागे। क्यों भागे

जी ? अब इस क्यों का उत्तर क्या दूँ ? डर के भागे, अपनी आदत से विवश थे। भागना उनके लिये कोई नई बात नहीं। मधु दैत्य को जब युद्ध में परास्त न कर सके तब धनुष उठा कर भाग खड़े हुए और भागते-भागते गन्धमादन पर्वत पर बदरीवन में एक पहाड़ की गुफा में जाकर छिप गये। वहाँ भी दैत्य पीछा करता हुआ चला गया तो उनके श्री अंग से एकादशी देवी ने निकलकर उस दैत्य को मारा। कालयवन से डरकर भागे सो जाकर मुचुकुन्द गुफा में छिप गये। सोते हुए मुचुकुन्द से उसे मरवाया। मधुकैटभ दैत्यों को भी लड़ाई में जीत न सके तब राम-राम करके उनसे किसी प्रकार वरदान प्राप्त करके मार सके। ये सब भगवान् की मनोहर लीलायें हैं। भक्तों को सुख देने और अभक्तों को मोह में फँसाने के लिये ये कौतुक हैं। उनकी क्रीड़ा में ऐसी-ऐसी आश्चर्यजनक बातें न हों, तो फिर जीवों की उधर रुचि कैसे हो ? कोई कुतूहल वश, कोई प्रेम वश, कोई द्वेश वश, कोई आलोचना समालोचना के ही लिये इन चरित्रों को सुनते पढ़ते हैं। चाहें वे किसी भाव से सुनें अथवा पढ़ें, उनसे कल्याण सभी का होता है। देर सबेर की बात दूसरी है। भगवान् दैत्यों की गालियों का बुरा नहीं मानते, प्रसन्न ही होते हैं। छोटा बच्चा अपने नन्हें-नन्हें हाथों से माता पिता पर प्रहार करता है, पिता की दाढ़ मूँछ पकड़ लेता है, इस पर माता-पिता हँस जाते हैं प्रसन्न होते हैं क्योंकि उसमें अपनापन है प्रेम है। स्त्री कुपित होकर प्रेमकोप में पति को कैसी-कैसी कड़ी-कड़ी बातें सुना देती है। कभी-कभी कोमल चरण कमलों से प्रहार भी कर देती है, किन्तु पति उसे अपना अहोभाग्य समझता है, उसे भाँति-भाँति की अनुनय विनय के द्वारा मनाता है। प्रेम की सभी लीलायें सुखद होती हैं। ससुराल में जिसे देखो वही गाली देकर ही बोलता है। बिना गाली के वहाँ का भाषण रूखा,

लगता है। गाली भी साधारण नहीं, ऐसी कि दूसरा दे तो हृदय में आर पार हो जायँ। किन्तु वहाँ वे मीठी लगती हैं, प्रेमपूर्वक सब सहते हैं, क्योंकि उनमें अपनापन है। अपना सम्बन्ध ही ऐसा सरस है।

इसी प्रकार भगवान् भी दैत्यों की गालियों को सुनकर उनके कठोर वाक्य सुनकर सुखी होते हैं और स्वयं भी क्रोध की सी मुद्रा बनाकर घूँसे का उत्तर लात से देते हैं। इन उत्तेजना पूर्ण सम्वादों से भक्तों को कितना सुख मिलता है, इसका अनुभव भक्तिहीन हृदय कर ही नहीं सकता।

हाँ, तो भागते हुए भगवान् के पीछे हिरण्याक्ष भी उसी प्रकार भागा जैसे ग्राह की पूँछ को देखकर आहार के भ्रम से बड़ा मत्स्य उसे खाने को भागता है। शत्रु ने समझा जब तक सूकर स्वामी जल के ऊपर नहीं पहुँचते तभी तक मैं इन्हें पकड़ लूँगा, किन्तु सूकर स्वामी भी सचेष्ट थे। झट उछले पट पृथ्वी को रख दिया, सट से अपनी आधार शक्ति का उसमें संचार करके, दैत्य के सम्मुख खट से खड़े हो गये। दैत्य ने देखा चार पैर वाला जन्तु क्रोध से लाल-लाल आँखें करके उनके सम्मुख ताल ठोकता हुआ खड़ा है। यह देखकर दैत्य को कुछ भय-सा हुआ। हाँ, यह साधारण सूकर नहीं है। इसमें शौर्य है, साहस है, शक्ति है, तभी तो मेरे सम्मुख निर्भय खड़ा है। किन्तु कोई चिन्ता नहीं मैं इसे अभी पछाड़ता हूँ, अभी इसके मद को चूर करता हूँ। इधर दैत्य यह सोच रहा था, उधर पृथ्वी रानी दृढ़ता से जल के ऊपर चिपक कर बैठ गई। उनके बैठते ही आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई। नन्दनकानन के कमनीय कुसुमों से वाराह भगवान् ढक गये। पृथ्वी पुष्पों से छा गई। उन पुष्पों से ढके हुए वाराह भगवान् उसी प्रकार शोभित हो रहे थे, जिस प्रकार कमल के खिले पुष्पों

के सरोवर में घुसा हुआ गजराज शोभित होता है। उन्हें इस प्रकार श्रीसम्पन्न देखकर हिरण्याक्ष उनका उपहास करते हुए बोला—"अरे, बस इतना ही तुझ में पानी है? हमने तो तेरी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, बड़ा बली है, पराक्रमशाली है। तू तो भगोड़ा निकला मेरे सामने टिक भी नहीं सका, मुट्ठी बाँधकर भागा। इसी बल पर देवता तेरी स्तुति करते हैं। इसी बल पर वे उछलते हैं। तू तो बड़ा डरपोक है, किन्तु आज मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं।"

वाराह भगवान् हँसे और बोले—"भैया, अब जैसे हैं, तैसे तेरे सामने खड़े हैं। तुझ बली से डरकर भागना भी चाहें, तो भागकर कहाँ जा सकते हैं? बलवान् से वैर बाँधकर कोई सुखी कैसे हो सकता है। अब आ जा मेरे-तेरे दो-दो हाथ हो जायँ।"

तिरस्कार के स्वर में हिरण्याक्ष ने कहा—"चल हट, सूअर का बच्च! आया लड़ने के लिये, एक गदा मारूँगा कि पीं-पीं करता हुआ लुढ़क जायगा, खोपड़ा चकनाचूर हो जायगी। सब चबर-चबर करना भूल जायगा।"

भगवान् बोले—"हाँ, भैया! हैं तो सूअर ही किन्तु तुझ जैसे कुत्तों को बीच में से चीर कर दो टुकड़े कर ही सकते हैं। तू अपना बल-पौरुष दिखा। वीर लोग बकवाद नहीं करते। वे तो कर्त्तव्य करके दिखाते हैं।"

सुखी हँसी हँसकर हिरण्याक्ष बोला—"अरे, हट, आया कहीं का बहुरूपिया। हमारी धरोहर पृथ्वी को चोर की तरह चुराकर लाने में और डर से युद्ध छोड़कर भागने में तुझे लाज भी नहीं आती? निर्लज्ज कहाँ का तू मेरे सामन लड़ेगा क्या? अब जब घिर गया है तो अपनी बहादुरी बघारता है।"

भगवान् बोले—"हमें चोर, निर्लज्ज, भगोड़ा—"तू जो चाहे

कह ले। हम तो इन बातों का बुरा मानते नहीं। बुरा मानें भी क्यों? इन कामों के करने में हमें किसी का भय नहीं। हम चार पैर वाले जानवर ही सही, किन्तु तू तो दो पैर वालों का राजा है। आ जा, गदा से गदा खटकें। दोनों के अस्त्र-शस्त्र आकाश में चटाचट चटकें, एक दूसरे को उठाकर पटकें। यदि तैंने अपने वचनों को पूरा न किया तो नीच कहलायेगा।"

इस प्रकार जब भगवान् ने उसे कठोर-कठोर वचन कह कर अत्यन्त ही कुपित किया, तो वह मारे क्रोध के लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगा। भगवान् को इस प्रकार तीक्ष्ण दृष्टि से देखने लगा मानों अपने तेज से ही भस्म कर देगा। क्रोधित हुए सिंह के समान, विषधर कुपित सर्प के समान, मदमत्त ऐरावत हाथी के समान, पङ्ख लगे कुपित विन्ध्याचल के समान वह बड़े वेग से भगवान् की ओर झपटा। भगवान् भी असावधान नहीं थे। दैत्य को प्रहार करते देखकर वे भी सम्हल गये और उससे लड़ने को तत्पर हो गये।

छप्पय

धरम धरा धरि दई, उलटि कें असुर निहार्यो।
बोले—आओ असुर! करूँ सत्कार तिहार्यो॥
दाँत पीसि खल कहे—वके का सूअर! आ जा।
मोकूँ जाने नहीं तीनि लोकनि को राजा॥
हरि बोले—बक-बक न करि, वीर न बात बनावते।
नहिं वे डींग बघारते, रण कौशल दिखलावते॥

हिरण्याक्ष और वाराह भगवान् का युद्ध

[१४७]

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया,
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनम्,
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥*

(श्रीभा० ३ स्क० १८ अ० २० श्लोक)

छप्पय

असुर सुने हरि बैन क्रोध रग-रग महँ छायो ।
किटकिटाय कें दाँत, गदा ले आगे आयो ॥
लपकि दुष्ट ने गदा हृदयमहँ हरिके मारी ।
करी व्यर्थ पुनि झपटि चोट करि फिरे मुरारी ॥
गदा गदा महँ लगहिँ परि, दोनों के बल नाहिँ घटहिँ ।
चट चटाइँ घम-घम बजहिँ, चिनगारी चहुँदिशि उठहिँ ॥

वस्तुओं के आदान-प्रदान से, खाने खिलाने से और परस्पर में रहस्य पूर्ण अपने सुख-दुःख की बातें कहने-सुनने से

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"हे कुरुकुलोद्भव विदुरजी ! जिन्होंने अपनी माया से सूकर रूप धारण कर लिया है, उन महामना यज्ञ मूर्ति श्रीहरि का पृथ्वी के निमित्त इस दैत्य हिरण्याक्ष के साथ क्रोध पूर्वक युद्ध होने लगा। उस युद्ध के देखने के लिये ऋषि—मुनियों से घिरे हुए ब्रह्मा जी भी वहाँ आ पहुँचे।"

जैसे स्नेह बढ़ता है, प्रेम-पाश में जिस प्रकार प्राणी बँध जाता है। उसी प्रकार दूसरे को परुष कहने से, उसकी निन्दा करने से, अपनी आत्मश्लाघा करते हुए दूसरे के बल को तुच्छ बताने से और गाली का उत्तर गाली से देने से क्रोध बढ़ता है और प्राणी परस्पर में भिड़कर युद्ध करने लगते हैं। युद्ध रूपी अग्नि का कठोर वचन ईंधन है। युद्ध रूपी हवन में परुष वाक्य रूपी घृत जब तक पड़ता नहीं, तब तक उसकी लपटें प्रचंड नहीं होतीं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब वाराह भगवान् ने उस अहंकारी दैत्य को इस प्रकार तिरस्कृत किया तब तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। अब तक उसके सम्मुख कठोर वचन कहने की बात कौन कहे, कोई उसके आगे भी नहीं आया था। आज एक चार पैर का सुअर मेरे सामने ही तिरस्कार कर रहा है और निर्भय हुआ युद्ध के लिये ललकार रहा है। तब तो दैत्य ने आव गिना न ताव, अपनी गदा घुमाकर इस प्रकार जोर से मारी कि वह सीधी वाराह भगवान् की छाती की ओर चली। ये जगत् भर के खिलाड़ी ठहरे, इन्होंने ऐसा पैतरा बदला, कि उसकी गदा व्यर्थ हो गई यह देखकर तो उसके रोम-रोम में अग्नि सी लग गई ज्यों ही उसने फिर गदा उठाई त्यों ही वाराह भगवान् ने अपनी गदा घुमाकर उसकी भौंह पर मारी। वह भी शूरवीर था। ऐसी उछाल मारा, कि अपने को बाल-बाल बचा लिया तब तो भगवान् भी समझ गये कि आज बराबर वाले से पाला पड़ा है।"

इधर दैत्य भी कुपित था, भगवान् भी घुरु-घुरु करके कोप से काँप रहे थे। अब तो दोनों भिड़ गये। परस्पर में एक दूसरे पर प्रबल प्रहार करने लगे, उछलने और कूदने लगे। कभी पृथ्वी में सट जाते, कभी आकाश में उछल जाते, कभी वह इनके ऊपर प्रहार करता, कभी ये उसे घायल करते। कभी वह

इनके श्रीअंग से रुधिर निकालता, कभी वे उसे रक्त से स्नान करा देते। इस प्रकार दोनों रक्त से सने हुए ऐसे प्रतीत होने लगे मानो वसन्त ऋतु में दो टेसू के वृक्ष वायु से हिल-हिलकर परस्पर में मिल रहे हों। अथवा दो पंख वाले गेरु के पर्वत आपस में लड़ रहे हों, अथवा एक गौ के लिये दो साँड़ सींगों की टक्कर लगा कर सम्पूर्ण बल से युद्ध कर रहे हों, अथवा आकाश में दो लाल बादल गरज-गरजकर तड़तड़ा रहे हों। उन दोनों के रक्त में भीगे हुए वस्त्र आकाश में बिजली की भाँति चमक रहे थे। दोनों में से कोई हारने वाला नहीं था, किसी को भी प्राणों का मोह नहीं था। पूरी शक्ति लगाकर हथेली पर जान रखे हुए युद्ध कर रहे थे, मानो प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध रूपी जुआ खेल रहे हों। दोनों ही यश की आकांक्षा रखने वाले थे। दोनों ही अपराजित थे, दोनों ही दुर्धर्ष, अप्रतिभ, विक्रान्त, शूरवीर, सत्त्वसम्पन्न, तेजस्वी, यशस्वी, और जगत् विजयी थे। विमानों पर बैठे हुए इन्द्रादिदेव, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, महर्षि, सिद्ध, चारण, गुह्यक इस भयंकर युद्ध को देख रहे थे। गन्धर्व गा रहे थे, अप्सरायें नाच रही थीं। देवता भगवान् के ऊपर पुष्प वृष्टि करके तथा जय घोषों द्वारा उनके उत्साह को बढ़ा रहे थे। भगवान् भी अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होकर शरीर को फुला-फुलाकर दुगुने उत्साह से दैत्य का दमन करने को दाँव-पेंच लगा रहे थे। इस दोनों में घमासान युद्ध हो रहा था उनके युद्ध के भयंकर शब्द प्रकार से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो असमय में ही प्रलय हो जायगी।

भगवान् को बड़ा आनन्द आ रहा था। उन्हें किसी से राग द्वेष तो है नहीं। खिलवाड़ प्रिय हैं, उन्हें खेलने को मन बहलाने को कोई खिलौना चाहिए। ऐसा लम्बा-तड़ंगा खिलौना और कहाँ मिलेगा, इसलिए वे उसमें जोर से गदा मारते और दूर जाकर

उसकी ओर मुँह बनाते, उसे बुरी तरह चिढ़ाते, अँगूठा दिखाते। जब वह क्रोध करके इनकी ओर आता, तो उछलकर बचा जाते। कभी वह प्रहार भी करता तो रक्त के फौहारे भगवान के शरीर से निकलते। जिससे दैत्य का सम्पूर्ण शरीर भीग जाता, यह देखकर वाराह भगवान् विकट हास्य करने लगते। आकाश में देवता और ऋषियों के सहित विमान में बैठे ब्रह्माजी घबड़ा गये, कि भगवान् को बाल लीला बड़ी प्रिय है। इनकी क्रीड़ा हो रही है, हमारे प्राण निकले जा रहे हैं। क्रीड़ाप्रिय प्रभु कहीं क्रीड़ा करते-करते ही इस दैत्य को खिलाते रहे, तब तो सृष्टि का संहार हो जायगा। अतः वे भय से काँपते हुए ऊपर से ही व्याख्यान देने लगे—ब्रह्माजी मेघगम्भीर वाणी से कहने लगे—"हे अशरण शरण! खिलवाड़ का भी समय होता है, हर समय की क्रीड़ा ठीक नहीं। यह दैत्य साधारण खिलौना नहीं। प्रभो! यह बड़ा बली है, इसने अनेकों निरपराध जीवों को मारा है। यह देवता, गौ और ब्राह्मणों का द्वेषी है, यह किसी अन्य से मारा भी नहीं जा सकता। मैंने इसे सभी प्राणियों से अवध्य होने का वरदान दे दिया है।"

सूकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"ब्रह्माजी! जब आपने इसे वरदान दे दिया है, तो हम क्यों मारें? बड़ा आनन्द आ रहा है। बहुत दिन से वैकुण्ठ में बैठे-बैठे कुछ सुस्ती-सी आ गई थी। लड़ाई-भिड़ाई करने को ही तो यह कौतुक रचा है। अब आप कहते हो, इसे मार दो। ऐसा खिलौना और कहाँ मिलेगा, जो युद्ध में हमें भी सन्तुष्ट कर सके?"

इस पर ब्रह्माजी बोले—"महाराज! यह साधारण बली नहीं। सभी लोकों को परास्त करता हुआ अपने प्रतिद्वन्दी की खोज में यह निकला है। यह देवताओं का कंटक महा अभिमानी, वीर्य-शौर्य से संयुक्त, मायावी, मदान्ध दृप्त और निरंकुश दुष्ट

दैत्य है। आप कोधित हुए घाल सर्प की भाँति इससे खिलवाड़ न करें। इसे शीघ्रातिशीघ्र मार दें।"

भगवान् अपनी तुण्ड को ऊपर उठाकर और दैत्य के प्रहार से सावधान होते हुए बोले—"ब्रह्माजी! शीघ्रता करने का क्या काम है, कुछ देर खिलवाड़ ही होने दो। मारना तो हैं ही, कभी मार देंगे।"

डरते हुए वेदगर्भ बोले—"न, प्रभो! अब आप देर न करें। कुछ ही देर में सायंकाल होने वाला है। यह दारुण वेला दैत्यों के लिये बलवृद्धिकारिणी होती है। सन्ध्या समय के अनन्तर असुर प्रबल हो जाते हैं, अतः जब तक सन्ध्या नहीं होती तभी तक इसे मार दें। हे ब्रह्मण्य देव, हे गोविन्द, हे सुरेश्वर, हे त्रिभुवन-पति अब देर करने का काम नहीं। क्रीड़ा तो बहुत हो चुकी।"

तब तक दैत्य ने भगवान् के एक गदा मारी। वह भगवान् के बायें हाथ में या आगे के पैर में लगी। इससे उन्हें बड़ा क्रोध आया। अपनी गदा को सम्हालते हुए वे नीची दृष्टि करके ही बोले—"ब्रह्माजी! पोथी, पत्रा, पंचाङ्ग साथ हो, तो देखो कोई अच्छा-सा मुहूर्त।"

काँपते हाथों से शीघ्रता पूर्वक पंचाङ्ग खोलकर और उँगलियों पर शीघ्रता से गिनते हुए चतुरानन बोले—"प्रभो! अब देरी करने का अवसर नहीं। बड़ा सुन्दर मुहूर्त है। अभिजित् नाम का योग है। परम मङ्गलमय मुहूर्त है, इसमें आपकी अवश्य विजय होगी। मुहूर्त को टलने न दीजिये। इसका अन्त कर दीजिये। ये सभी देवता इससे बड़े दुखी हैं। काल से प्रेरित जैसे पतंगा अपने आप ही अग्नि की लोय में आ जाता है और उसमें भस्म हो जाता है। इसी प्रकार मृत्यु सन्निकट आ आने से यह बिना बुलाये आपके सम्मुख आ गया है। अब देरी करने से काम सिद्ध न होगा। बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। इसे मारकर विश्व

का कल्याण कीजिये, अधर्म का क्षय कीजिये, धर्म की वृद्धि कीजिये और प्राणियों को अभय प्रदान कीजिये।"

ब्रह्माजी की ऐसी सरल, भय से युक्त बातें सुनकर भगवान् हँस पड़े, कि बड़े बूढ़े कितने सीधे होते हैं। काल का भी काल जो मैं हूँ, मुझे मुहूर्त बता रहे हैं, भय दिखा रहे हैं। उन्हें देवताओं के सहित डरा देखकर भगवान् ने नेत्र के संकेत से ही कह दिया-- "चिन्ता की कोई बात नहीं। कुछ काल इस क्रूर से क्रीड़ा और कर लूँ फिर इसे मार दूँगा। ज्यों ही भगवान् सम्हले, त्यों ही उसने भगवान् के उसी हाथ में फिर प्रहार किया। अब तो भगवान् उसके ऊपर टूट पड़े। ऐसी एक गदा उसकी ठोढ़ी पर मारी कि उसे छठी तक का दूध याद आ गया। आँखों के सामने दिन में ही तारे चमकने लगे। फिर भी दैत्य सम्हल गया। अबके सम्पूर्ण शक्ति लगाकर ज्यों ही उसने घुमाकर गदा मारी, त्यों ही भगवान् की तनी हुई गदा उनके हाथ से छूट कर पृथ्वी पर गिर गई। यह भगवान् के लिये अद्भुत बात हुई। आज तक कोई भी युद्ध में उनके हाथों से गदा को नहीं गिरा सका था। इतना पराक्रम किसी दैत्य, दानव असुर ने नहीं दिखाया था। देवताओं के मुख फक्क पड़ गये, वे भय से थर-थर काँपने लगे। उन्होंने सोचा इसने तो भगवान् को भी जीत लिया। वाराह भगवान् तो निहत्थे हो गये।

भगवान समझ गये कि ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व और ब्रह्माजी आदि सभी मेरी इस क्रीड़ा से दुःखी हो रहे हैं, तब वे खड़े हो गये। हिरण्याक्ष चाहता तो भगवान् पर प्रहार कर सकता था। किन्तु इस समय प्रहार करना उसने युद्ध धर्म के विरुद्ध समझा। निहत्थे पर प्रहार करना दुर्बलों का काम है। इसलिये उसने अवसर प्राप्त होने पर भी भगवान् के ऊपर प्रहार नहीं किया। तब भगवान् ने अपने दिव्य सुदर्शन चक्र को स्मरण किया, स्मरण

करते ही चक्र भगवान् के करकमलों में शोभित होने लगा। अब चक्र लेकर भगवान् उसके ऊपर दौड़े। वह भी सावधान था, अतः क्रोध के कारण दाँतों से ओठ को काटता हुआ, भौंहों को चढ़ाकर लाल-लाल आँखें करके फिर मारने की इच्छा से भगवान् के ऊपर दौड़ा और घुमाकर फिर गदा मारी। भगवान् ने पैर की ठोकर से ही उसे नीचे गिरा दिया।

अपनी गदा को गिरी देखकर गर्वीले दैत्य के हृदय पर बड़ा आघात हुआ। वह किंकर्तव्य विमूढ़ बना वहाँ खड़ा का खड़ा ही रह गया। तब हँसकर यज्ञमूर्ति भगवान् बोले—"बेटा, उठा लो अपनी गदा को। घबड़ाओ मत, सावधानी से लड़ो, शीघ्रता करने का काम नहीं। अभी तुम बच्चे हो, वय के कच्चे हो, कुछ-कुछ सच्चे हो, देखने में अच्छे हो। मैं निःशस्त्र पर प्रहार न करूँगा।"

दैत्य गदा को उठाना तो नहीं चाहता था, किन्तु करता क्या—दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। शत्रु के सम्मुख घुटना टेकना तो उसने सीखा ही नहीं था। विवश होकर उसने गदा उठा ली और शक्ति लगाकर ज्योंही फिर भगवान् के ऊपर छोड़ी, त्योंही उन्होंने अपने बड़े-बड़े नख वाले पंजों से उसे पकड़कर उसके हाथ से खींच लिया और मुँह मटकाते हुए बोले—"कहो बच्चू! अब क्या करोगे? बोलो—लेते हो गदा।"

शत्रु के हाथ से गदा लेने में उसने अपना घोर अपमान समझा, इसलिये भगवान् के देने पर भी उसने गदा नहीं ली। अब तो उसका उत्साह भङ्ग हो गया, मुँह फीका पड़ गया। तेज नष्ट हो गया। प्रभाहीन और कान्ति से शून्य हुआ दैत्य त्रिशूल तानकर भगवान् की ओर लपका और पूरी शक्ति लगाकर उसने भगवान् को लक्ष्य करके बलपूर्वक उसे फेंका, किन्तु भगवान् ने

उसे बीच में ही अपने तीक्ष्ण धारों वाले सुदर्शन चक्र से फाटकर फेंक दिया।

मैत्रेय मुनि विदुरजी से कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार लीला से ही वाराह बने श्रीहरि के साथ दैत्यराज हिरण्याक्ष का घनघोर युद्ध होता रहा। पहिले तो दोनों का समान युद्ध हो रहा था। अब भगवान् का पलड़ा कुछ भारी दिखाई देने लगा। दैत्य का पक्ष गिरता-सा दिखाई दिया।"

छप्पय

इततें मारे दैत्य देवपति उततें मारहिँ।
छिन-छिन करिहँ प्रहार किन्तु दोनों नहिँ हारहिँ॥
असुर गदातें विष्णु गदा गिर गई मही महँ।
चतुरानन अति डरे विष्णु तें विनय करी तहँ॥
मगंलमय है शुभ घरी, अभिजित् को शुभयोग है।
अबई मारें जाइ हरि, जिह सब जग को रोग है॥

हिरण्याक्ष-उद्धार

[१४८]

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया,
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्,
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥*

(श्री भा० ३ स्क० १९ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

विधिके भोरे बैन सुने हरि अति हरषाये।
चक्र तानि वाराह दैत्यकूँ मारन धाये॥
मायावी खल कपट कर यों हरिपै पुनि झपट्यो।
ओठ काटि करि कोप विष्नुके तनतैं लिपट्यो॥
निकसे वाकी भुजनितें, एक तमाचो जड़ि दयो।
धम्म धड़ाको सो भयो, फटे वृक्ष सम गिरि गयो॥

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अत्यन्त अवज्ञा के साथ जब विश्वजित् भगवान् ने उस दैत्य पर प्रहार किया तो उसके सम्पूर्ण शरीर में चक्कर आने लगा, आँखें फट गईं। हाथ, पैर और बाल छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये। वह उसी प्रकार पृथ्वी पर मरकर गिर गया, जिस प्रकार वेगवती आँधी से उखड़ कर विशाल वृक्ष निर्जीव होकर गिर पड़ता है।"

जीव माया के पाश में बँधकर कैसा भूल जाता है वह मायापति के साथ भी माया करना चाहता है। जगत् के एक-मात्र स्वामी श्रीहरि भी जब इस त्रिगुणमय संसार में शरीर धारण करके अवतरित होते हैं, तो कैसी-कैसी मोहक लीलायें करते हैं, जिन्हें देखकर ब्रह्मादिक देवताओं को भी उनकी ईश्वरता में सन्देह होने लगता है। यह गड़बड़ घुटाला तभी होता है, जब हम माया को मायापति से मिला देते हैं, उन्हें भी उसी के अधीन समझने लगते हैं। निरन्तर जीव को यह स्मृति बनी रहे, कि ये प्रभु मायातीत हैं। उनमें माया का लेश भी नहीं, त्रिगुणों का उन पर कोई प्रभाव नहीं, दुःख सुखों की उनके समीप पहुँच नहीं। इतना ज्ञान होने पर क्रीड़ा नहीं बन सकती। क्योंकि क्रीड़ा के लिये माया का आश्रय लेना ही होगा, वे उससे निर्लेप होकर भी खेलते हैं। कैसी माया है, कैसी क्रीड़ा है, कैसा कौतूहल है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् ने उस हिरण्याक्ष दैत्य के प्रखर तेज से प्रकाशित त्रिशूल को अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया जैसे बादलों को वायु छिन्न-भिन्न कर देती है, तब तो दैत्य के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने भगवान् के कौस्तुभ मणि से सुशोभित श्रीवत्स चिह्न से चिह्नित वक्षःस्थल में एक कसकर घूँसा मारा। उसे ऐसा लगा मानों मेरा घूँसा किसी दृढ़ पर्वत की चट्टान पर अथवा लोहे की शिला पर पड़ा हो। भगवान् को ऐसा लगा मानों देवताओं ने उनकी छाती को लक्ष करके कल्पवृक्ष का फूल गिरा दिया हो। वे न उससे विचलित हुए न दुखी ही हुए। क्रोध करके उस दैत्य के ऊपर झपटे। इतने में ही दैत्य अपनी माया का आश्रय लेकर वहीं अन्तर्धान हो गया और छिपकर मायापति के प्रति माया का प्रयोग करने लगा।"

आकाश में चारों ओर अन्धकार छा गया, बिजली चमकने लगी असमय में ही वर्षा होने लगी। बादलों की गड़गड़ान-तड़तड़ान से दिशायें फटने लगीं। पशु-पक्षी घोसलों से उड़ने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, नदियाँ क्षुभित हो गईं, अग्निहोत्र की अग्नियाँ बुझ गईं। वायु वेग से चलने लगी। सूर्य चन्द्रादि ग्रह आकाश में लुप्त हो गये। समय बड़ा ही वीभत्स प्रतीत होने लगा। विष्ठा, मूत्र, पीव, रक्त, केश तथा अन्य अमङ्गल वस्तुओं की भी आकाश से वृष्टि होने लगी। हाथ में खप्पर लिये जीभ लपलपाती जोगिनी नग्न होकर नाचने लगीं, हूं-हूं शब्द करके कोलाहल करने लगीं। राक्षसी त्रिशूल लिये मुँह से अग्नि की लपटें निकलती हुईं, मारो काटो आदि शब्द कहकर चारों ओर दौड़ने लगीं। भूत, वैताल, डाकिनी, साकिनी, यक्ष, राक्षस चारों ओर भयङ्कर अमङ्गल युक्त वीभत्स शब्द करने लगे। उनमें से कोई सिंहों पर, कोई घोड़ों पर, कोई रथों पर चढ़े थे, कोई-कोई पैदल ही विचर रहे थे। चट्ट-चट्ट पट्ट-पट्ट शब्द निरन्तर सुनाई देते थे। चलियो रे, लीजियो रे, पकड़ियो रे, सम्भालियो रे, यह गया, वह गया, यह आया, उसे सम्हाल, जाने न पावे। मार दो, काट दो, बाँध लो, ऐसे शब्द सर्वत्र सुनाई देने लगे।

इस प्रकार दैत्य की आसुरी माया से मोहित होकर सम्पूर्ण प्रजा के लोग हाहाकार करने लगे, भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे, सभी ने समझा कि प्रलय काल उपस्थित हो गया। देवता भी डर गये, ब्रह्माजी भी चक्कर में पड गये, वे बार-बार वेद मन्त्रों का पाठ करने लगे। ऋषि मुनि स्वस्ति-स्वस्ति, कल्याण हो, मङ्गल हो। वाराह भगवान की जय हो ऐसे शब्दों का उच्चारण करने लगे।

भगवान् ने देखा कि दैत्य की माया का प्रभाव तो चराचर

जगत् के लोगों पर व्याप्त हो गया है, तब तो वे हँसे और उन्होंने अमित तेज से उत्पन्न हुए अपने सुदर्शन चक्र को छोड़ा। उस चक्र ने दैत्य की माया का उसी प्रकार नाश कर दिया जैसे उदित हुए सूर्यदेव कुहरे का नाश कर देते हैं। माया नष्ट हो गई, दैत्य दिखाई देने लगा। देवताओं के हर्ष का वारापार नहीं रहा, दिति का हृदय काँप उठा हिरण्याक्ष का हृदय क्षुभित हो उठा, उसे अपनी मृत्यु प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। फिर भी वह विचलित नहीं हुआ। सामने खड़े हुए सूकर भगवान् को देखकर वह पूरी शक्ति लगाकर आँखें बन्द करके इस इच्छा से उन्हे पकड़ने के लिये झपटा की इन्हें दोनों हाथों से पकड़कर मसल दूँ। ज्यों ही उसने पकड़कर अपनी भुजाओं के बीच में दबाया, त्यों ही भगवान् फट से बाहर निकल आये। अब तो दैत्य हक्का बक्का रह गया। उसके सब प्रयत्न विफल हो गये। उसने अब भगवान् पर थप्पड़ और मुक्कों का प्रहार करना आरम्भ कर दिया। भगवान् ने भी सोचा अब इस अस्त्र शस्त्रहीन पर किसी आयुध के द्वारा प्रहार क्यों करें। यह विचार कर भगवान् ने जोर से एक चपत उसके गाल में मारी। कनपटी पर तमाचा लगते ही दैत्य तिड़ी-बिड़ी होकर गिर पड़ा। उसकी बोलती बन्द हो गई, आँखें फट गईं, जीभ बाहर निकल आई। हाथ पैर कटे हुए साखू वृक्ष की शाखाओं के समान इधर-उधर फैल गये। स्वास की गति रुक गई और वह दैत्य प्राणहीन होकर उसी प्रकार शोभित होने लगा, जिस प्रकार अंजन पर्वत का शिखर टूटकर पृथ्वी पर पड़ा हो।

यद्यपि दैत्य मर गया था, किन्तु ब्रह्मादिक देवताओं को अब भी भ्रम बना हुआ था कि कहीं फिर उठकर यह भगवान् से न लड़े। इसलिये कुछ मिली जुली सी स्तुति करने लगे—"देखो इस दैत्य राज के भाग्य को, ऐसा सौभाग्य भला किसे प्राप्त हो

सकता है, ऐसी मृत्यु प्राप्त होना तो योगियों के लिये भी दुर्लभ है। सभी योगी, त्यागी, विरागी इसीलिये भजन पूजन जप-तप नियम अनुष्ठान आदि करते हैं, कि अन्त समय में हमें भगवान् की स्मृति हो जाय, किन्तु इसके सम्मुख तो साक्षात् श्री हरि ही चतुर्भुज रूप से खड़े हैं। इसकी महिमा क्या कही जाय कि भगवान् के श्रीमुख में अपनी दृष्टि गड़ाकर इसने पाञ्च-भौतिक शरीर का त्याग किया। ये दोनों भगवान् के पुराने पार्षद ही हैं। अब ये कुछ काल में अपने पद पर पुनः प्रतिष्ठित होंगे।"

जब देवताओं ने देखा, दैत्य सचमुच मर गया है, इसके शरीर में प्राण शेष नहीं है। तब तो वे भगवान् की निर्भय होकर स्तुति करने लगे—"हे भगवन्! आपकी जय हो, जय हो बड़ा अच्छा किया आपने जो इस दुष्ट का वध किया। यह बड़ा नीच था, पापी था, हमें बड़ा दुःख देता था। इसके कारण हम सब बड़े दुखी थे, इसने सभी सुरों के नाकों चने चबवा दिये थे। सबको बिल्ली बना रखा था। सबको तुच्छ समझता था।"

वाराह भगवान् यह सुनकर बड़े हँसे। देखो, इन स्वार्थी देवताओं की बात, अब तक तो उसकी हाँ में हाँ मिला रहे थे, अब दूसरा ही राग अलापने लगे। रुख ही बदल दिया ठाठ ही पलट दिया। यह सोचकर बिना देवताओं से कुछ कहे ही वे अपने अखंड आनन्द युक्त अनुपम स्थान को प्रस्थान कर गये। ब्रह्मादिक देवता स्तुति करते के करते ही रह गये।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी! यह मैंने आपसे अति विस्तार करते हुए संक्षेप में सूकरावतार की कथा कही है। विस्तार के साथ तो असंख्यों वर्षों में भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। मैंने अपने गुरुदेव भगवान् सांख्यायन के श्रीमुख से यह कथा

इसी प्रकार सुनी है। कल्प भेद से कहीं-कहीं कथाओं में भेद भी होता है।"

सूतजी शौनकादि मुनियों से कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार महाराज परीक्षित् के पूछने पर भगवान् शुकदेव जी ने जो विदुर मैत्रेय सम्वाद के अन्तर्गत यह वाराह-चरित्र कहा था वह मैंने आपको सुनाया। अब आप मुझसे और क्या सुनना चाहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हमें कुछ इस चरित्र में एक दो सन्देह रह गये हैं। उनका निवारण आप पहले करें। तब हम आपसे आगे की कथा कहने को कहेंगे।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! कहिये, मैं यथामति आप की शंकाओं का समाधान करूँगा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी ! पहिली शङ्का तो हमें यह है कि वैकुण्ठ में तो किसी को क्रोध होता नहीं, परम त्यागी सनकादिकों को क्रोध क्यों हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! इसका इसके अतिरिक्त कि भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी, दूसरा कोई उत्तर हीं नहीं। नित्य विहार धाम में तो कुछ कहना ही नहीं वह सदा एकरस होता है। लीला धाम में ये क्रीड़ायें होती हैं उनमे भगवान् खेल के लिये जिसे चाहें जो बना लें उनके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे नाटक में राजा अपने मन्त्रियों को सभासदों को चाहें जो बना देता है। स्वयं भी कुछ बन जाता है, किन्तु उसके पद में उसकी प्रतिष्ठा में उसके व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं। इसलिये क्रोध करने पर भी सनकादिकों के भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।"

शौनकजी बोले—"अच्छा, यह तो ठीक है। किन्तु हम यह जानना चाहते हैं, कि जय विजय भगवान् के यहाँ रहे ही नहीं।

उनका सर्वथा पतन हो गया क्या ? यदि ऐसा हुआ तो उसी समय वैकुण्ठ में जय-विजय का फिर उल्लेख क्यों आता है बलि के यज्ञ में भी जय विजय का फिर उल्लेख क्यों मिलता है तब तक तो तीनों जन्मों में उनका असुर योनि से मुक्ति हुई नहीं, फिर वे वहाँ कैसे आ गये ?"

सूतजी बोले—"महानुभाव ! जय-विजय तो भगवान् के नित्य पार्षद हैं। वे एक रूप से वहाँ भी रहे और अपने अंश से यहाँ भी अवतीर्ण हुए। तीन जन्मों में भगवान् के साथ क्रीड़ा करके अपने अंशों में मिल गये। जब स्वर्गीय देवता ही एक ही समय अनेक स्थानों में की हुई पूजा को अनेक रूप रखकर ग्रहण करते हैं, तब वैकुण्ठ के नित्य पार्षदों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ?"

शौनकजी बोले—"हाँ, यह बात तो हम समझ गये अब यह बताइये, कि आपने हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु को आदि दैत्य बताया है। जब तक पृथ्वी पर बस्ती नहीं हुई थी, जब तक मनु शतरूपा नहीं उत्पन्न हुए उसके पहिले ही दैत्य विद्यमान थे, फिर आपने इन्हें कश्यपजी का पुत्र बताया है। कश्यपजी तो मरीचि के पुत्र थे। जब सृष्टि के आदि में कश्यपजी का ही जन्म नहीं हुआ तो फिर ये दैत्य कहाँ से आ गये ?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"शौनकजी ! आप भी ऐसे प्रश्न करते हैं। आप इन मानवी दिन-रात्रि को क्यों गिनते हैं, पहिले कल्प में ये उत्पन्न हुए। कल्प के अन्त में भगवान् के उदर में रहे। दूसरे कल्प में सृष्टि होते ही इन्हें भगवान् ने मारा। दृष्टि को विशाल करके अपने दिनों को छोड़कर ब्रह्माजी के ही दिनों पर ध्यान देंगे, तो ये शंकायें ही न उठेंगी।"

शौनकजी बोले—"अच्छी बात है यह कल्प भेद वाला उत्तर ऐसा है, कि इसके आगे कोई शंका रहती ही नहीं। ठीक है

हिरण्याक्षवध की कथा को सुनकर विदुरजी ने मैत्रेय मुनि से क्या कहा ?"

सूतजी बोले—"कहा क्या ? विदुरजी बड़े प्रसन्न हुए। होना ही चाहिये। जब हम भगवद् भक्तों के चरित्रों को सुनकर गद्‌गद् हो जाते हैं। तब यह तो साक्षात् भगवान् का चरित्र है भगवान् दया के सागर हैं, कृपा के निधि हैं। भक्त भयहारी हैं आर्तों के दुख हारी हैं। उन्होने गज को ग्राह से बचाया अनेक दुखियों को सुखी बनाया ऐसे भक्तवत्सल भगवान् का भजन कौन भवभय से भीत हुआ पुरुष न करेगा ? कौन आनन्द की इच्छा रखने वाला पुरुष उनका श्रद्धा सहित सेवन न करेगा ?"

जो पुरुष श्रद्धा सहित इस सूकरावतार की कथा को सुनते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं। यह परमपवित्र, सदा श्रवणीय, कानों को सुख देने वाला और अन्त में भगवत् लोक को पहुँचाने वाला चरित्र है। मुनियो ! आप इसे बार-बार सुनें जितनी ही बार सुनेंगे, उतना ही अधिक आनन्द आवेगा। इतना कहकर सूतजी चुप हो गये।

छप्पय

योग समाधि लगाइ जिनहिँ योगीजन ध्यावहिँ।
नेति-नेति नित कहैं वेदहू पार न पावहिँ॥
अन्तकाल महँ अवश नाम ले नर तरि जावहिँ।
चौरासी तें छूटि जगतमहँ फिरि नहिँ आवहिँ॥
बड़भारी दितिसुत असुर, हरि निरखत निजतनु तज्यो।
प्रभु प्रहारतें ई मर्यो, शत्रु भाव तें हरि भज्यो॥

आपके ज्ञान की वृद्धि, विश्वसाहित्य की समृद्धि एवं राष्ट्रभाषा
को कीर्ति प्रदान करने वाला सत्यं शिवं सुन्दरम्
के आदर्श से अनुप्राणित

हिन्दू धर्म और हिन्दी–साहित्य में युगान्तकारी धार्मिक प्रकाशन

भागवती कथा

इसके लेखक हैं :—कोटि-कोटि भारतीयों के हृदय में अपनी लेखनी से अविरल भक्ति भागीरथी प्रवाहित करने वाले सन्त शिरोमणि पूज्यपाद श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज। इसमें आप—

१—श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों की कथाओं का रहस्य सरलता और घरेलू ढङ्ग से समझेंगे।

२—दैनिक जीवन को सात्त्विक, धार्मिक और राष्ट्रीय जीवन की सार्थकता में परिणत करेंगे।

३—व्यवहारिक या गार्हस्थ्य जीवन को जीने के लिये नहीं, जीवन के लिये इसके पठन से उसे उच्च और धार्मिक बनायेंगे।

४—श्रेय और प्रेय, योग और भोग—एक साथ सम्पादन करने—प्राप्त करने—की शिक्षा घर बैठे प्राप्त करेंगे।

५—जननी जन्मभूमि की महत्ता को समझकर स्वधर्म, स्ववर्ण, स्ववेश, तथा स्वदेश के प्रति निष्ठावान् बनेंगे।

६—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, कर्म, वेदान्त, आदि समस्त उच्च भारतीय दार्शनिक विचारों का औपन्यासिक शैली में अत्यन्त सरल, रोचक एवं हृदयाकर्षक भाषा में वर्णन पायेंगे जिसे आबाल वृद्ध नर-नारी सब समझ सकते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जाय इसमें श्री ब्रह्मचारीजी ने 'गागर में सागर' वाली कहावत को चरितार्थ कर दिया है।

इस अभूत पूर्व ग्रन्थ में १०८ भाग होंगे। ८१ खण्ड प्रकाशित हो गये हैं, शेष छप रहे हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य १.६५ है।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डों मे)—६१ खण्ड छप चुके है। प्रति खण्ड का मू० १.६४ पैसे डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११.००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३.४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २.५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११–नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ०.६०

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ०.३१

१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ०.४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीय खड मू० २.५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित मू० ०.७५

२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२०

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२

२४–सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.००

२५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२६–श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२७–महावीर-हनुमान्— मू० २.५०

पता—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)